धुनिक
परिवेश
और
स्तित्ववाद
Public Library

आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद

सुप्रसिद्ध कथाकार एवं विचारक
डॉ० शिवप्रसाद सिंह
के अस्तित्ववाद विषयक विचारोत्तेजक
निबंधों का संग्रहणीय संकलन !

अस्तित्ववाद के जन्म, विकास और
उसकी क्रांतिकारी धारणाओं का
समग्र परिचय प्रस्तुत करनेवाली, चिंतनपूर्ण कृति—
हिंदी में संभवतः पहली बार।

अस्तित्व :
समाज और साहित्य पर, दीर्घकालिक प्रभाव डालनेवाली एक
ऐसी विचारधारा, जिसके पुरस्कर्ताओं का आग्रह था कि
'चिंतन अपनी अनुभूति से जगना चाहिए।
वह अपने भोगे हुए क्षणों का अभिसाक्ष्य होना चाहिए।'

अस्तित्ववाद :
पाश्चात्य चिंतन को भारतीय दर्शन से जोड़नेवाला एक सेतु !

कीर्केगार्द, नीत्शे, दास्तोवस्की, यास्पर्स, हेडगर, मार्सल, सार्त्र,
काफ्का, अलबेयर कामू, बर्देवफ ऐसे लेखक-विचारक
जिनके क्रांतिधर्मा चिंतन के संबंध में सामान्य हिंदी पाठक को
संभवतः अधिक जानकारी नहीं।

आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद
पाठकों को ऐसे ही प्रमुख अस्तित्ववादियों के
अद्भुत भावलोक में ले जाती है जहां परंपरागत चिंतन के
प्रति विद्रोह है, मानव-अस्तित्व की समग्र व्याख्या करने
की व्याकुलता है।

इस निबंध-संग्रह का प्रत्येक निबंध
पाठक के चिंतन को गतिमान बनाता है,
उसकी दृष्टि को विस्तार देता है।

आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद
वर्षों बाद हिंदी में एक चिंतनपूर्ण कृति !

ISBN 81-214-0183-6
मूल्य : 45.00

आधुनिक परिवेश
और
अस्तित्ववाद

डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
34, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-3

ISBN 81-214-0183-6

मूल्य : 45.00

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित / द्वितीय संस्करण : 1988 / सर्वाधिकार : डॉ० शिवप्रसाद सिंह / शान प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 में मुद्रित ।
[69-2-11-1187/N]

AADHUNIK PARIVESH AUR ASTITVAVAAD (Criticism)
by Dr. Shivprasad Singh Rs. 45.00

प्रिय बंधु डॉ० धर्मवीर भारती को
—जिनकी प्रेरणा से लिखे जाकर
ये निबंध
'धर्मयुग' में छपे

पुरोवाक्

पिछले विश्वयुद्ध के बाद बौद्धिक जगत् को शायद ही किसी विचारधारा ने इतना प्रभावित किया हो, जितना कि अस्तित्ववाद ने। यद्यपि इस विचारधारा को जन्म देने का श्रेय कीर्केगार्द (1813-1855) को है; किंतु इसे अखिल वैश्विक मान्यता का आधार तो सार्त्र, कामू और काफ्का जैसे लेखकों ने बनाया। इनमें भी सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व सार्त्र का है, जिसने जर्मन जेल से छूटते ही अपने देश की मुक्तिकामना से प्रतिरोध आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। सार्त्र की अपनी अनुभूतियों, कड़वी, तल्ख और जोखिम-भरी अनुभूतियों के भीतर से कीर्केगार्द के विचारसूत्र और धारणाएं तथा नीत्शे से लेकर हेडगर तक की दार्शनिक उपपत्तियां एक नयी आभा और चमकदार तेवर लेकर उपस्थित हुईं। सार्त्र के एक-एक वाक्य जैसे संपूर्ण प्राचीन ज्ञान-भंडार के मलवे पर आबदार मोती की तरह बिखरते चले गये। कामू प्रतिरोध आंदोलन में उसका सहयोगी था। वह रचना के स्तर पर सार्त्र से बहुत भिन्न था, उसमें सार्त्रीय तात्त्विक-सूत्रों जैसा चमत्कार नहीं है; बल्कि भोगी हुई अनुभूतियों की प्रखर स्वीकृति है, उसमें जिंदगी के प्रति एक अदम्य मोह है तो इस असंगति-भरे विश्व से एक अद्भुत निर्मम खिंचाव भी। उसके 'मिथ ऑफ सिसिफस' ने पाठकों के सम्मुख एक ऐसे जगत् का उद्घाटन किया जो बहुत अपरिचित होते हुए भी आज के मनुष्य के लिए खूब जाना-पहचाना और ईमानदारी से भरे बयानों से परिभाषित था। निरपराध 'सिसिफस' अब भी चट्टान को उसी प्रकार तलहटी से पहाड़ी की चोटी पर पहुंचाने के लिए लथ-पथ परिश्रम कर रहा है, पर चट्टान है कि एक बिंदु पर जाकर अपने भारीपन के कारण समूचे मनसूबों पर पानी फेरती हुई पुनः घाटी में लुढ़क आती है। काफ्का का 'कासल' एक ऐसा अबूझ किला है जिसके भीतर जाने के लिए मानव-मन तड़पता रहता है; किंतु किले में प्रवेश के

लिए किले के मालिक की आज्ञा प्राप्त करना निहायत मुश्किल है, क्योंकि वह अपने नौकरों से परत-दर-परत इस तरह घिरा है कि बाहरी परत से आगे बढ़ पाना ही कठिन है।

यह सारा भावलोक आधुनिक जिंदगी से इस तरह संसक्त और संपृक्त था कि इसने बरबस मेरा ध्यान आकृष्ट किया। मार्च, 1964 में मैंने कीर्केगार्द की डायरी पढ़ी और उसके व्यक्तित्व को बहुत नजदीक से देख सका। उसी वक्त मैंने 'टूटे रथचक्रों का सारथी : कीर्केगार्द' शीर्षक निबंध लिखा और उसे 'धर्मयुग' में भेज दिया। वह निबंध 21 जून, 1964 के अंक में प्रकाशित हुआ। 'धर्मयुग' ने कीर्केगार्द का पूर्ण-पृष्ठीय रंगीन चित्र भी छापा। उसी वक्त बंधुवर डॉ० धर्मवीर भारती के स्नेहपूर्ण आग्रह से मैंने सभी प्रमुख अस्तित्ववादी चिंतकों पर लेख लिखना शुरू किया जो 16 मई, 1965 तक यथावसर छपते रहे। भारती जी ने कई निबंधों की शीर्ष-टिप्पणियां भी खुद लिखीं। लेखक उनके प्रति कृतज्ञ है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ये धारा-वाहिक निबंध हिंदी में अस्तित्व-वाद की चिंतन-धारा को स्पष्ट करने के प्रथम प्रयत्न थे।

तब से लेकर लगातार पाठकों के पत्र आते रहे और यह लगता रहा कि इन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करना कई दृष्टियों से उपयोगी होगा। पाठकों के स्नेहभरे आग्रह का परिणाम यह पुस्तक है। इसमें कुछ मामूली संशोधन किया गया है। सभी निबंध अविकल रूप से यहां प्रस्तुत हैं।

—शिवप्रसाद सिंह

'सुधर्मा', 13 गुरुधाम कालोनी
वाराणसी-5
28 अगस्त, 1973

अनुक्रम

आधुनिक परिवेश
और
अस्तित्ववाद

आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद

"क्या यह संभव है कि कुछ ऐसा जो महत्त्वपूर्ण और वास्तविक हो, अभी तक देखा या जाना न गया हो ? क्या यह संभव है कि मनुष्य-जाति ने उन सहस्राब्दियों को, जिनमें उसने देखा-परखा, सोचा-विचारा, वैसे ही बीत जाने दिया हो, जैसे स्कूल के रेसस को कोई लड़का सैंडविच या सेब खाकर बिता देता हो ?

हां, यह संभव है।

क्या यह संभव है कि तमाम अन्वेषणों और विकास के बावजूद हम अभी भी मात्र जीते रहने की सतह पर खड़े हों ?

हां, यह संभव है।

क्या यह संभव है कि मनुष्य-जाति का सारा इतिहास गलत ढंग से समझ लिया गया हो ?

हां, यह संभव है।

क्या यह संभव है कि लोग एक ऐसे अतीत को बिल्कुल प्रामाणिक और सही मान चुके हों, जो कभी आया ही न हो ?

हां, यह संभव है।

क्या यह संभव है कि ऐसे लोगों को सभी वास्तविकताएं व्यर्थ-सी लगती हों और वे उनसे असंबद्ध रहकर वैसे ही चल रहे हों जैसे कमरे की दीवार-घड़ी ?

हां, यह संभव है।

किंतु यदि यह सब-कुछ संभव है और यदि इसमें शंका की गुंजायश नहीं है, तो निश्चय ही कुछ-न-कुछ जरूर किया जाना चाहिए। कम-से-कम अब पहले 'व्यक्ति' को ही सही—ये उपेक्षित कार्य संभाल लेने चाहिए, क्योंकि उसके अलावा दूसरा कोई आसपास दीखता भी नहीं।"

रेनै मारिया रिल्के के चित्त की यह अकुलाहट उन तमाम बौद्धिकों के चित्त की अकुलाहट हो सकती है जो आज के भारत में जी रहे हैं (जहां शताब्दियों का परंपरा-पुष्ट ज्ञान होते हुए भी वह व्यर्थ का कूड़ा बन गया है और छप्पन करोड़ लोगों की मानव-ऊर्जा के बल पर चलनेवाले इस देश का भविष्य आज भी उतना ही अंधकाराच्छन्न दिखाई पड़ रहा है, जितना आज से पच्चीस वर्ष पूर्व स्वतंत्र होने के पहले लगता था)।

लोग-बाग अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि आज-जैसा बुरा जमाना पहले कभी नहीं आया। असल में वह जमानों की तुलना की बात अपनी उस बेचारगी को छिपाने के लिए करते हैं जो लाख कोशिश पर भी उनका साथ नहीं छोड़ना चाहती। पूर्व की ही यह हालत हो, ऐसी भी बात नहीं। बेचारगी और असंगत जीवन को ढोते रहने की ऊब का शिकार पहले पश्चिम ही हुआ था। जिस व्यक्ति की पंक्तियां ऊपर उद्धृत की गयी हैं वह जर्मनी में पैदा हुआ था। हमें इस अबूझ स्थिति के कारणों की खोज अपने परिवेश में करनी होगी। इसमें दो मत नहीं है कि सारी मानवता, बहुत संपन्न और विपन्न दोनों किस्म की, विकसित और अविकसित दोनों किस्म की, आज एक ऐसे बिंदु पर खड़ी है जहां उसे आगे जाने का कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता हैं और न तो यही संभव है कि इसे घड़ी की सूइयों की तरह पीछे घुमाकर हम अपने को उस तथाकथित सुनहले अतीत में लौटा सकते हैं, जिसका स्वप्निल वर्णन पुरानी किताबों में भरा है। हम चाहकर भी घी-दूध की नदियोंवाले काल्पनिक अतीतवाले भारत के वातावरण में नहीं लौट सकते।

(हम लौट सकते नहीं, आगे जा सकते नहीं, फिर इस व्यर्थ की ऊल-जलूल जिन्दगी को, जिसमें कुछ भी न जुड़ता है न घटता है, जो एकतार बेरस ढंग से ढोयी जाने के लिए हमारे ऊपर लाद दी गयी है, क्या करें? कहां ले जायें? यही प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें अपने परिवेश से पाना है।)

पिछले दो विश्वयुद्धों से संत्रस्त यूरोप में परिवेश की अनबूझ जटिलता के कारण यह प्रश्न बहुत तीखे रूप से सामने आया। तकनीकी ज्ञान-विज्ञान ने जहां मनुष्य को दैनंदिन क्रिया-कलाप में अभूतपूर्व सहायता दी; वहीं उसने संघातक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण द्वारा ऐसी जटिल समस्या भी उत्पन्न कर दी कि लगने लगा कि मानवता की सुरक्षा का कोई मार्ग नहीं है। सबसे बड़ी मजबूरी तो यह है कि अपने द्वारा पैदा की गयी मशीनों के आगे ही आदमी बौना हो गया है। 'फॉरबिडेन प्लेनेट' के मानसिक शैतान की तरह हमने अद्भुत मशीनों के आविष्कार किये; किंतु इन मशीनों ने आदमी को जड़ और मशीनी बनाने में कहीं से कोई मुरव्वत नहीं दिखाई, इन मशीनों के कारण आदमी और आदमी के बीच का रिश्ता टूटता गया, व्यापक पैमाने पर बननेवाली वस्तुओं पर आदमी के हाथों के स्पर्श के स्थान पर मशीनों की मुहर लगने लगी। औसत आदमी मशीनों का दास बन गया

और अपनी जीविका के लिए उसके कान निरंतर मशीनों के भोंपू पर लगे रहने लगे। इस कारण जीवन में एक ऐसा एकरस विद्रूप तत्व उत्पन्न हुआ जिसे हम तकनीकी अलगाव कह सकते हैं। हीगेल ने बहुत पहले रचनात्मक अलगाव की बात की थी। उसका कहना था कि आदमी कला, दर्शन, कानून, राजनीति में अपने मस्तिष्क द्वारा जो रचना करता है उससे उसका अलगाव स्वाभाविक परिणाम है। मस्तिष्क द्वारा रचित हर वस्तु अपने स्रोत से अलग होने की प्रक्रिया है। उसने यहां तक कहा कि यह प्रकृति स्वयं विश्व-मस्तिष्क से अलग इसीलिए है क्योंकि यह उसकी उपज है। हीगेल के इस सिद्धांत को मार्क्स ने बहुत अच्छी तरह समझा और उसका भिन्न ढंग से विनियोग किया। हीगेल के आदर्शवादी रचनात्मक अलगाव को मार्क्स ने उत्पादनात्मक अलगाव का रूप दिया और बताया कि वस्तुओं के निर्माता श्रमिक और उत्पन्न वस्तुओं में सामाजिक व्यवस्था के कारण अलगाव स्वाभाविक है जिसे मात्र श्रमिक क्रांति से ही दूर किया जा सकता है।

इस स्थिति में जब शब्द, साधन, औजार तथा मशीनों की यह स्वाभाविक गति है कि वे अपने निर्माता से स्वतंत्र होने के लिए प्रयत्नशील हैं, और हो जाती हैं अत: यह भी उतना ही स्वाभाविक है कि ज्यों-ज्यों तकनीकी विकास होता जायेगा, आदमी कटा हुआ और बेसहारा अनुभव करता जायेगा। इसके चुंबकीय आकर्षण से कोई बच नहीं सकता। एक छोटा शिशु हवाई जहाज, कार, रेडियो, फ्रिज आदि चीजों से जितना आकृष्ट होता है उतना अपने माता-पिता से नहीं, स्कूल में वह इन चीजों को समझने की ज्यादा कोशिश करता है अपने अध्यापक को नहीं, ये चीजें इतनी सर्वव्यापक होती जा रही हैं कि इनसे दूर रहनेवाले ग्रामीण भी इनके प्रभाव से बच नहीं सकते। उस प्रगति में ही निराशा और अलगाव के कीटाणु वर्तमान हैं, क्योंकि वह सारी प्रगति मनुष्य की आंतरिकता की उपेक्षा करके बाह्य जगत् में संघटित हो रही है। तकनीकी वातावरण हमारे समूचे जीवन को घेरे हुए है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता और यह हमारे अपने तौर-तरीके और जीवन-क्रम को निरंतर प्रभावित कर रही है—चाहे हम इस पर खयाल करें या न करें, यह प्रभाव अवश्यंभावी रूप से पड़ता ही है। इसी के कारण, साहित्य, दर्शन, संगीत, चित्रकला सभी बदल रहे हैं, वे शिल्प बनते जा रहे हैं, उनके भीतर की आत्मा प्राय: मर गयी है। इस प्रकार मशीनी सभ्यता ने आज के मनुष्य और उसके सामने विद्यमान जगत् के बीच अफाट अलगाव और विसंगति खड़ी कर दी है। यह तकनीकी अलगाव की समस्या है जिससे उबरने के लिए मनुष्य छटपटा रहा है। आज की सबसे बड़ी उपलब्धि अणुशक्ति है, जिसने संपूर्ण मानव-अस्तित्व के सामने ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है।

समाजशास्त्री इस समस्या पर एक भिन्न कोण से सोचने की कोशिश करता है।

'क्राइसिस ऑफ अवर एज' नामक पुस्तक में पितिरिम सॅरोकिन ने इस समस्या का बहुत व्यापक विश्लेपण किया। आधुनिक युग-संकट को उन्होंने इंद्रियबोधपरक संस्कृति (क्राइसिस ऑफ सेन्सेट कल्चर) कहा है। उन्होंने यूनान, रोम तथा बाकी यूरोप की ऐतिहासिक संस्कृतियों की व्याख्या तथा समय-समय पर होनेवाली घटनाओं-युद्धों आदि से यह निष्कर्ष निकाला कि इंद्रियबोधपरक संस्कृति युद्ध और खूनी क्रांतियों के लिए सर्वाधिक उर्वर भूमि है। और पश्चिम में व्याप्त यह बीमार और खोखली संस्कृति यदि नष्ट होकर तर्कमूलक विचार-प्रधान संस्कृति (आइडियाशनल कल्चर) में बदल नहीं जाती तो 20वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भयानक युद्धों और नरमेध का अध्याय बन जायेगा। यह सर्वाधिक खूनी शताब्दी का सर्वाधिक खूनी संकट है। सॅरोकिन इसे 'पैथालॉजिकल कल्चर' कहते हैं। उनका खयाल है कि इससे बचने के दो तरीके हैं, एक : संकट→अग्निस्नान→विरेचन→अनुकलता→उदय (रीसरेक्शन)।[1] कहना न होगा कि यह तरीका प्रभु ईसू के जीवन से लिया गया है। दूसरा तरीका भी ईसाइयत से ही लिया गया है। इसे सॅरोकिन परापेक्षावाद यानी 'अल्ट्रूइज्म' कहते हैं। यानी मनुष्य को दूसरे की अपेक्षा करनी चाहिए, अलगाव को पाटना चाहिए। दूसरों के दुःख को समझना चाहिए। एक बार श्री अरविंद ने इस परापेक्षावाद की समीक्षा करते हुए कहा था—"परापेक्षावाद अच्छी चीज है, पर वह कम अच्छी हो जाती है जब वह दूसरों के स्वार्थों को सहलाने और बढ़ावा देने का कार्य करती है।"[2]

जाहिर है कि हम सॅरोकिन के सामाजिक विश्लेपण को पूरी तरह स्वीकार करके भी किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सकते। उनका परापेक्षावाद किसी भविष्यत् हिटलर या मुसोलिनी को कहां तक बदल पायेगा, कहना मुश्किल है।

इस युग के एक दूसरे समाजशास्त्री लीविस ममफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ मैन' में लिखा—"हम एक नये युग के कगार पर खड़े हैं। यह खुला युग है और अपना हिस्सा अदा करने के लिए तैयार है। यह नया पुनर्जागरण-युग है जो कर्म और अवकाश तथा ज्ञान और प्रेम के द्वारा जीवन के हर क्षेत्र में ऐसी त्रिपादिका का निर्माण करेगा। प्राचीन मनुष्य, सभ्य मनुष्य, मशीनी मनुष्य ने अब तक आंशिक रूप से ही मनुष्य की संभावनाओं की थाह ली है, यद्यपि इनके कार्य में बहुत-कुछ अब भी काम का है, जिसे आधार बनाया जा सकता है, तो भी नये मनुष्य के लिए इस टूटे हुए मलबे से कुछ मिलेगा नहीं। ममफोर्ड का खयाल है कि सारे अवरोधों के बावजूद ऐसा लगता है कि विश्व संस्कृति अपने अग्रिम विकास के लिए एक आध्यात्मिक शक्ति पैदा करेगी जिसकी संभावनाओं

1. क्राइसिस ऑफ अवर एज, 30-79
2. थाट्स ऐंड एफ रिज्म, पृ० 56

पर लोगों को आज वैसा ही अविश्वास हो सकता है जैसा भौतिकी के क्षेत्र में शताब्दी-पूर्व रेडियम के बारे में अविश्वास था।"[1]

मॅरोफिन और ममफोर्ड-जैसे समाजशास्त्रियों के फॉर्मूले, जो किसी-न-किसी रूप में ईसाई अध्यात्म पर आधारित हैं, अन्य चिंतकों को कतई स्वीकार नहीं हैं, जो ईसाई धर्म के प्रति काफी आस्था भी रखते हैं; पर वे जानते हैं कि पोप की सत्ता के नीचे पलनेवाला ईसाई धर्म केवल रूढ़ियों का एक समुच्चय बनकर रह गया है।

आर्थर कोसलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'योगी ऐंड द कमिस्सार' में इस पहलू पर बहुत विस्तार से विचार किया है। हो सकता है कि आज की मानवता के सम्मुख संकट के पार जाने के लिए कुछ लोगों को सिर्फ दो ही रास्ते दिखाई पड़ें। एक आध्यात्मिक, दूसरा राजनैतिक। एक योगी और दूसरा कॅम्यूनिस्ट लोक-सेवाध्यक्ष यानी कमिस्सार। इस दृष्टि से सबसे अधिक प्रचारित पुस्तक आर्थर कोसलर की 'द योगी ऐंड द कमिस्सार' रही है। कोसलर ने यह स्वीकार किया है कि हमें एक ऐसे रंगवीक्षक यंत्र, स्पेक्ट्रस्कोप की आवश्यकता है जिससे हम जीवन को नये सिरे से देख सकें, जिसके द्वारा जीवन का कीचड़ साफ-सुथरा और स्पष्ट रूप से दिखाई पड़े, जिसे हम सुधारकर जीवन को इंद्रधनुषी बना सकें।

इस दृश्यावली के एक छोर पर स्पष्टतः इन्फ्रारेड, दहदह लाल छोर पर हम कमिस्सार को पायेंगे जो विश्व में बाहर से परिवर्तन ले आने में विश्वास करता है। वह मानता है कि मानवता के सभी कीटाणु, चाहे वे कब्जियत के हों या एडिपस ग्रंथि के, क्रांति द्वारा मारे जा सकते हैं—यानी निर्माण की एक खूब चौकस पद्धति और वस्तुओं के वितरण की सुसंगठित मशीनरी—और कहना न होगा कि परिणाम ही माध्यम के औचित्य की गारंटी है। इसके लिए यदि रक्तपात, फांसी, धोखेबाजी, विष-प्रयोग आदि करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। कोसलर कहते हैं कि इस छोर पर अंतर्ध्वनियों की कम गुंजायश है, यह रंगदर्शक यंत्र का सबसे खुरदुरा हिस्सा है, पर यह जरूर है कि यहाँ सबसे अधिक उत्ताप का अनुभव होता है।

इस रंगवीक्षक यंत्र के दूसरे छोर पर, जहां तरंगें अत्यंत गहरी और लोक-ध्वनियां बहुत तीव्र होती हैं, कि आंख उन्हें देख नहीं सकती। रंगहीन, तापहीन, किंतु जो बहुत गहराई में आने की कोशिश करता है उस छोर पर पद्मासन में बैठा है योगी, एकटक परलोकिक नीलिमा में खोया हुआ, उसे इस बात पर कहे जाने में कोई आपत्ति नहीं है कि दुनिया एक मशीनी घड़ी है, इसे इसमें इतना ही सत्य नजर आता है जितना यह कहने पर कि यह एक संगीतबंद बक्सा है, या मछलियों से भरा तालाब। उसका कहना है कि परिणाम के बारे में कुछ कहना मुश्किल

1. ट्रांसफार्मेशन ऑफ मैन, पृ० 192

है. साधन स्पष्ट है। वह रक्तपात को हर हालत में त्याज्य मानता है, वह मानता है कि तर्क की शक्ति खोने लगती है ज्यों-ज्यों वह चुंबकीय बिंदु के निकट पहुंचती है। वह मानता है कि सिर्फ परब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। वह मानता है कि बाहरी संगठन और व्यवस्था से दुनिया में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। हर चीज केवल मनुष्य के आंतरिक प्रयत्न से ही होगी, वह मानता है कि सूदखोर महाजनों ने भारतीय किसानों पर जो कर्जदारी की गुलामी लादी है, वह वैधानिक तरीकों से नहीं, आध्यात्मिक तरीकों से दूर की जानी चाहिए।[1]

कोसलर ने इन्हीं ध्रुवों के बीच ही बाकी समाधानों की स्थिति रखी है। उन्होंने बड़े विस्तार से योगी और कमिस्सार दोनों की असफलता का वर्णन किया है। उनका कहना है कि कमिस्सार का सारा प्रदत्त रूस में ही फेल हो गया। पास्कल ने इस मतवाद की त्रुटियों को ठीक-ठीक समझा था। योगी की मुश्किल यह है कि वह आंतरिक प्रयत्न को जब समूह की चीज बनाने लगता है तो वह वैसे ही असफल होता है। जब भी साधुता के प्रचार के लिए बाहरी साधनों का संगठन किया गया, संगठन ही मुश्किल में फंस गये।

कोसलर के इस विवेचन से पूर्णतः असहमत न होते हुए भी प्रश्न उठता है ततः किम्। आखिर रास्ता कहां है?

इस 'नान्यः पंथाः' वाली विवशता को समझने का प्रयत्न योरोप में द्वितीय महायुद्ध के भी पहले से शुरू हुआ।

कीर्केगार्द इस प्रकार के चिंतन का प्रथम पुरस्कर्ता था। डॉ० राधाकृष्णन् ने कीर्केगार्द के विषय में ठीक ही लिखा है कि "आगस्टे काम्टे (1798-1857) और कीर्केगार्द (1813-1855) एक ही समय की उपज हैं। दोनों ने हीगेल के आदर्शवाद के विरुद्ध आक्रोश-भरी प्रतिक्रिया व्यक्त की; पर उनके विचारों को उस समय बहुत महत्त्व नहीं दिया गया।"[2] पर धीरे-धीरे दो विश्वयुद्धों के भीतर गुजरते हुए जनमानस में कीर्केगार्द का 'एकाकी व्यक्ति' अपनी सभी आक्रोशमयी प्रतिक्रिया और निराशा-भरी घुटन के बीच तेजी के साथ उभरता गया। दॉस्तोवस्की ने जब अपना 'नोट्स फ्रॉम अंडरग्राउंड' छपाया, उस समय 1864 में कीर्केगार्द को मरे नौ वर्ष हो चुके थे। कीर्केगार्द को न तो दॉस्तोवस्की के बारे में जानकारी थी और न तो दॉस्तोवस्की को कीर्केगार्द के विषय में, फिर भी दोनों के सोचने के तरीके में एक ऐसी समानता है कि लगता है कि उस समय व्यक्ति नहीं, वातावरण ही प्रधान

1. द योगी ऐंड द कमिस्सार, द मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क, 1965, पृ० 15-18
2. रिलिजन ऐंड कल्चर, ओरिएंट पेपरबैक, 1968, पृ० 91

था जिसमें सभी प्रबुद्ध लोग एक तरह से चीजों को खोज-टटोल रहे थे। इस अद्भुत बेहूदेपन से भरे वातावरण में दास्तोवस्की विश्व को देख रहा था, कीर्केगार्द व्यक्ति को। काफमैन का यह कथन नितांत सत्य है कि कीर्केगार्द को पढ़कर दास्तोवस्की पढ़ने वाले को लगेगा कि वह एक छोटे-से कमरे में बंद था अथवा उसे अचानक समुद्र में चलती एक छोटी-सी नाव में रख दिया गया है।[1]

यह कितने आश्चर्य की बात है कि कीर्केगार्द, जिस जनता को घृणा करने की कसम लेता है उसी के द्वारा अपमानित और तिरस्कृत अनुभव करता हुआ अपने व्यक्तिगत अहं को एक नयी चिंतनात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। कीर्केगार्द स्वयं सिर्फ 'एक व्यक्ति' नहीं रहता बल्कि इस सहानुभूतिहीन भीड़ के जिसे समाज कहा जाता है, मुकाबले एक ऐसी विचारधारा उत्पन्न करता है जिसमें 'व्यक्ति' को स्वयं में एक श्रेणी माना जाता है। यूनानी दर्शन के महत्त्व के कारण जो स्वयं में गणित से प्रभावित थी, पश्चिमी दर्शन ने अपने निष्कर्ष और हल यों निकाले गोया ये सब व्यक्तिनिरपेक्ष बातें हैं। कीर्केगार्द ने इस व्यक्तिनिरपेक्ष कुहासे को तोड़ते हुए कहा था, "सत्यं शिवं और सुंदरं से बड़ा नहीं है, पर सत्यं शिवं सुंदरं निश्चय रूप से हर मानव अस्तित्व की चीजें हैं और ये तीनों किसी 'एक' अस्तित्वमान् व्यक्ति में ही एकाकार समन्वित हो सकती हैं।"[2]

कीर्केगार्द का मुख्य उद्देश्य ईसाई-जगत् में फैले बाह्याडंबर को चीरना और ईश्वर और मनुष्य के बीच बिना किसी बिचौलिये के सीधा संबंध स्थापित करना था। ईश्वर और मनुष्य के बीच विश्व का कोई महत्त्व नहीं है, विश्व इस साक्षात्कार में आदमी की कोई सहायता भी नहीं कर सकता। यह है आदमी जिसे इस परिस्थिति में सिर्फ एक चीज करने की जरूरत है और वह है वैयक्तिक निर्णय। उसे अपने बारे में निर्णय लेना ही होगा।

उसका भीड़ के प्रति आक्रोश, उसकी नितांत वैयक्तिकता, उसके चुभते व्यंग्य, उसकी आत्मा की कड़वाहट, उसकी निफाट निःसंगता सभी आज के आदमी के लिए संबल हैं, और हम चाहकर भी कीर्केगार्द की देन को झुठला नहीं सकते।

नीत्शे कीर्केगार्द से कई अर्थों में समान था। यह सही है कि दोनों के भीतर संवेगों के प्रति समर्पण का भाव था और दोनों में ही सहानुभूति के प्रति निरादर की भावना थी; पर नीत्शे कीर्केगार्द की तरह तर्क को एकदम बकवास नहीं मानता था। कीर्केगार्द की अपेक्षा वह ज्यादा आधुनिक इसी कारण लगता है। नीत्शे ने ईसाइयत पर प्रहार इसलिए नहीं किया कि वह उसे बहुत तार्किक चीज मानता

1. एक्जिस्टेंशियलिज्म फॉम दॉस्तोवस्की टु सार्त्र, पृ० 14
2. कन्क्लूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्ट स्क्रिप्ट, पृ० 311

है. साधन स्पष्ट है। वह रक्तपात को हर हालत में त्याज्य मानता है, वह मानता है कि तर्क की शक्ति खोने लगती है ज्यों-ज्यों वह चुंबकीय बिंदु के निकट पहुंचती है। वह मानता है कि सिर्फ परब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। वह मानता है कि बाहरी संगठन और व्यवस्था से दुनिया में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। हर चीज केवल मनुष्य के आंतरिक प्रयत्न से ही होगी, वह मानता है कि सूदखोर महाजनों ने भारतीय किसानों पर जो कर्जदारी की गुलामी लादी है, वह वैधानिक तरीकों से नहीं, आध्यात्मिक तरीकों से दूर की जानी चाहिए।[1]

कोसलर ने इन्हीं ध्रुवों के बीच ही बाकी समाधानों की स्थिति रखी है। उन्होंने बड़े विस्तार से योगी और कमिस्सार दोनों की असफलता का वर्णन किया है। उनका कहना है कि कमिस्सार का सारा प्रदत्त रूस में ही फेल हो गया। पास्कल ने इस मतवाद की त्रुटियों को ठीक-ठीक समझा था। योगी की मुश्किल यह है कि वह आंतरिक प्रयत्न को जब समूह की चीज बनाने लगता है तो वह वैसे ही असफल होता है। जब भी साधुता के प्रचार के लिए बाहरी साधनों का संगठन किया गया, संगठन ही मुश्किल में फंस गये।

कोसलर के इस विवेचन से पूर्णतः असहमत न होते हुए भी प्रश्न उठता है ततः किम्। आखिर रास्ता कहां है?

इस 'नान्यः पंथाः' वाली विवशता को समझने का प्रयत्न योरोप में द्वितीय महायुद्ध के भी पहले से शुरू हुआ।

कीर्केगार्द इस प्रकार के चिंतन का प्रथम पुरस्कर्ता था। डॉ० राधाकृष्णन् ने कीर्केगार्द के विषय में ठीक ही लिखा है कि "आगस्ट काम्टे (1798-1857) और कीर्केगार्द (1813-1855) एक ही समय की उपज हैं। दोनों ने हीगेल के आदर्शवाद के विरुद्ध आक्रोश-भरी प्रतिक्रिया व्यक्त की; पर उनके विचारों को उस समय बहुत महत्त्व नहीं दिया गया।"[2] पर धीरे-धीरे दो विश्वयुद्धों के भीतर गुजरते हुए जनमानस में कीर्केगार्द का 'एकाकी व्यक्ति' अपनी सभी आक्रोशमयी प्रतिक्रिया और निराशा-भरी घुटन के बीच तेजी के साथ उभरता गया। दॉस्तोवस्की ने जब अपना 'नोट्स फ्रॉम अंडरग्राउंड' छपाया, उस समय 1864 में कीर्केगार्द को मरे नौ वर्ष हो चुके थे। कीर्केगार्द को न तो दॉस्तोवस्की के बारे में जानकारी थी और न तो दॉस्तोवस्की को कीर्केगार्द के विषय में, फिर भी दोनों के सोचने के तरीके में एक ऐसी समानता है कि लगता है कि उस समय व्यक्ति नहीं, वातावरण ही प्रधान

1. द योगी ऐंड द कमिस्सार, द मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क, 1965, पृ० 15-18
2. रिलिजन ऐंड कल्चर, ओरिएंट पेपरबैक, 1968, पृ० 91

था जिसमें सभी प्रबुद्ध लोग एक तरह से चीजों को खोज-टटोल रहे थे। इस अद्भुत बेहूदेपन से भरे वातावरण में दॉस्तोवस्की विश्व को देख रहा था, कीर्केगार्द व्यक्ति को। काफमैन का यह कथन नितांत सत्य है कि **कीर्केगार्द को पढ़कर दॉस्तोवस्की पढ़ने वाले को लगेगा कि वह एक छोटे-से कमरे में बंद था अथवा उसे अचानक समुद्र में चलती एक छोटी-सी नाव में रख दिया गया है।**[1]

यह कितने आश्चर्य की बात है कि कीर्केगार्द, जिस जनता को घृणा करने की कसम लेता है उसी के द्वारा अपमानित और तिरस्कृत अनुभव करता हुआ अपने व्यक्तिगत अहं को एक नयी चिंतनात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। कीर्केगार्द स्वयं सिर्फ 'एक व्यक्ति' नहीं रहता बल्कि इस सहानुभूतिहीन भीड़ के जिसे समाज कहा जाता है, मुकाबले एक ऐसी विचारधारा उत्पन्न करता है जिसमें 'व्यक्ति' को स्वयं में एक श्रेणी माना जाता है। यूनानी दर्शन के महत्त्व के कारण जो स्वयं में गणित से प्रभावित थी, पश्चिमी दर्शन ने अपने निष्कर्ष और हल यों निकाले गोया ये सब व्यक्तिनिरपेक्ष बातें हैं। कीर्केगार्द ने इस व्यक्तिनिरपेक्ष कुहासे को तोड़ते हुए कहा था, "**सत्यं शिवं और सुंदरं से बड़ा नहीं है, पर सत्यं शिवं सुंदरं निश्चय रूप से हर मानव अस्तित्व की चीजें हैं और ये तीनों किसी 'एक' अस्तित्वमान् व्यक्ति में ही एकाकार समन्वित हो सकती हैं।**"[2]

कीर्केगार्द का मुख्य उद्देश्य ईसाई-जगत् में फैले वाह्याडंबर को चीरना और ईश्वर और मनुष्य के बीच बिना किसी बिचौलिये के सीधा संबंध स्थापित करना था। ईश्वर और मनुष्य के बीच विश्व का कोई महत्त्व नहीं है, विश्व इस साक्षात्कार में आदमी की कोई सहायता भी नहीं कर सकता। यह है आदमी जिसे इस परिस्थिति में सिर्फ एक चीज करने की जरूरत है और वह है वैयक्तिक निर्णय। उसे अपने बारे में निर्णय लेना ही होगा।

उसका भीड़ के प्रति आक्रोश, उसकी नितांत वैयक्तिकता, उसके चुभते व्यंग्य, उसकी आत्मा की कड़वाहट, उसकी निफाट निःसंगता सभी आज के आदमी के लिए संबल है, और हम चाहकर भी कीर्केगार्द की देन को झुठला नहीं सकते।

नीत्शे कीर्केगार्द से कई अर्थों में समान था। यह सही है कि दोनों के भीतर संवेगों के प्रति समर्पण का भाव था और दोनों में ही सहानुभूति के प्रति निरादर की भावना थी; पर नीत्शे कीर्केगार्द की तरह तर्क को एकदम बकवास नहीं मानता था। कीर्केगार्द की अपेक्षा वह ज्यादा आधुनिक इसी कारण लगता है। नीत्शे ने ईसाइयत पर प्रहार इसलिए नहीं किया कि वह उसे बहुत तार्किक चीज मानता

1. एक्जिस्टैंशियलिज्म फ्रॉम दॉस्तोवस्की टु सार्त्र, पृ० 14
2. कन्क्लूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्ट स्क्रिप्ट, पृ० 311

था, वल्कि ईसाइयत उसकी दृष्टि में तर्कशक्ति की घनघोर शत्रु थी। किंतु तार्किकता को नीत्शे समूह की चीज नहीं मानता था, वह जानता था कि इसके अभाव के कारण ही मिथ्या धारणाएं और विचार आदमी की नियति पर अधिकार जमाये हुए हैं। वह 'गे सायन्स' में लिखता है, "अच्छे दिल का होना, परिष्कृति, या प्रतिभा का मेरे निकट कोई मूल्य नहीं है जबकि मैं देखता हूं कि इस तरह के सद्गुण रखने वाले लोग अपनी आस्था और विश्वास के बीच नाना प्रकार के दुर्भावों को सहते रहते हैं।"—इस 'सहने' पर व्यंग्य करते हुए उसने 'दस स्पेक जरथुष्ट्र' में कहा, "थकान और हरारत के द्वारा जो एक छलांग में परम लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हैं वह भी एक आत्मघाती छलांग के द्वारा, जिससे प्रेरित इस क्षुद्र थकान ने, जो थकान के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहती, इन तमाम देवताओं और जन्म के बाद के लोकों की कल्पना कर ली है। विश्वास करो मेरे बंधुओ, यह शरीर ही है जो शरीर को सर्वाधिक निराश बनाता है।" वह आराधना और उपासना के नाम पर मन और शरीर को तोड़नेवाली जड़ आस्था को दुकड़ही वस्तु मानता था। उसने अपने जीवन की जैसी अद्भुत परीक्षा और विश्लेषणा की, वैसी कठोर विश्लेषणा शायद ही कोई कर सके। इसीलिए सिगमंड फ्रायड ने कहा कि "वह अपने बारे में इतना अधिक चीर-फाड़ कर सकनेवाला अंतर्मुखी ज्ञान रखता था, जितना शायद ही किसी आदमी ने रखा हो या भविष्य में रखनेवाला पैदा हो सके।"[1] नीत्शे खतरनाक जिंदगी का मसीहा था। उसकी जिंदगी स्वयं भूकंपों से पैदा हुई और उन्हीं में विलीन भी हो गयी।

अनेक लोगों ने यह शंका व्यक्त की है कि क्या नीत्शे को अस्तित्ववादी कहा जा सकता है। अस्तित्ववाद के संकुचित अर्थ में शायद वह इस सीमा में न बंधे; परन्तु किसी भी बंधी-बंधायी परिपाटी को स्वीकार न करने की दृढ़ता, विश्वासों को प्रचारित करनेवाले समाज में अनास्था तथा दर्शन के किसी भी प्रचारित मतवाद को इनकार करने की संकल्प-शक्ति—जो जिंदगी से कटे हुए वाग्जाल के सामने माथा झुकाने को तैयार नहीं थी, नीत्शे को अस्तित्ववादी भूमिका में खड़ी करती है। यही विशेषता कीर्केगार्द में थी, यही दॉस्तोवस्की में थी, यही बाद के अस्तित्ववादियों का मूल उद्देश्य था कि चिंतन अपनी अनुभूति से जगना चाहिए, वह अपने भोगे हुए क्षणों का अभिसाक्ष्य होना चाहिए। अस्तित्ववाद की लोकप्रियता का मूल कारण यही ईमानदारी थी कि ये चिंतक बनी-बनायी परिभाषाओं को स्वीकार नहीं करते, बल्कि अपनी संवेदना के भीतर से अपने अस्तित्व को परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं।

अस्तित्ववादियों की दर्शन और विज्ञान को नकारने की यह प्रक्रिया बहुत

1. एग्जिस्टेंशियलिज्म फ्रॉम दॉस्तोवस्की टू सार्त्र, पृ० 20

विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वे मानते हैं कि मनुष्य की बौद्धिकता की अब तक की ये सर्वोच्च उपलब्धियां मनुष्य को परिभाषित करने के लिए काफी नहीं हैं। अस्तित्ववाद कोई तयशुदा दर्शन परिपाटी नहीं है। यह सोचने-विचारने की एक दृष्टि है। यह दृष्टि वस्तुपरक की अपेक्षा आत्मपरक अधिक है। डॉ० राधाकृष्णन् ने ठीक ही लिखा है कि—"उपनिषदों में स्पष्ट घोषणा थी—'आत्मानं विद्धि'—अपने को जानो। भगवद्गीता कहती है कि सभी प्रकार के ज्ञानों में आत्मज्ञान सबसे महत्त्वपूर्ण है। हमें इस बात का गहरा ज्ञान होना चाहिए कि मनुष्य होने का अर्थ क्या है। मनोविज्ञान अस्तित्व की स्थितियों को, उसके तंत्र को विश्लेषित तो करता है; पर वह मनुष्य को बहुत से टुकड़ों में बांट देता है ताकि विज्ञान की दूसरी शाखाएं उसका विश्लेषण करें। आदमी नाना पदार्थों के बीच एक पदार्थवत् स्वीकृत किया जाता है। उसका आत्मिक पक्ष और नैतिक पहलू उपेक्षित रह जाता है। विज्ञान व्यक्तियों की जगह धारणा और मत-वादों का पुलिंदा पेश करता है। आदमी विचार, अनुभवों और इच्छाओं की ढेरी बन जाता है। टेनिस की गेंद पदार्थ है; किंतु मनुष्य पदार्थ भी है और पदार्थविद् भी। अस्तित्ववाद मानव-अस्तित्व के मूल्यों को स्पष्ट करना चाहता है इसके लिए हमें विज्ञान से परे जाना होगा।"[1]

अस्तित्ववाद के विकास में दॉस्तोवस्की, कीर्केगार्द और नीत्शे का योगदान नकारा नहीं जा सकता; किंतु अस्तित्ववाद को आधुनिक मनुष्य की नियति से जोड़ने का कार्य यास्पर्स, हेडगर और सार्त्र-जैसे चिंतकों ने तथा काफ्का, और कामू-जैसे लेखकों ने किया। सार्त्र, कामू और काफ्का अस्तित्ववादी चिंतन की अछूती गहराई को इस कारण छू पाये कि वे सभी निजी अनुभूतियों के सघन और अनिर्वचनीय रूप को अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता से भरे हुए थे।

यास्पर्स के लिए आज के युग की सबसे बड़ी समस्या बौद्धिक विश्लेषण की प्रवृत्ति में देखी जा सकती है जो दर्शनियां हुण्डी की तरह हमारे किसी काम की नहीं होती। यास्पर्स कीर्केगार्द की बलात् लादी हुई ईसाइयत या नीत्शे की बलात् लादी हुई 'ईसाइयत-विरोधवादिता' को स्वीकार नहीं करता। बावजूद इसके वह हीगेल और शेलिंग जैसे तमाम दार्शनिकों के झुंड में सिर्फ कीर्केगार्द और नीत्शे को ही मौलिक दार्शनिक मानता है। वह अपने दर्शन को 'अस्तित्वदर्शन' नाम देता है, यह नाम भी उसने बाद में दिया क्योंकि उसे दर्शन शब्द से ही चिढ़ हो गयी थी। उसने देखा कि आदमी और दार्शनिक के बीच, सत्ता और अस्तित्व के बीच किसी भी प्रकार की संवाद की स्थिति ही नहीं बची है। इसीलिए वह संवाद माध्यम (कम्युनिकेशन) को फिर जारी करना चाहता है; पर संवाद को सर्मन नहीं बन

1. रिलिजन ऐंड कल्चर, पृ० 99

अपील, आत्मीय संपत्ति का रूप लेना होगा। यास्पर्स मानता है कि "सत्य का दर्शन वहीं संभव है जहां दो आदमी हों, कम-से-कम दो ताकि मैं निरंतर अपनी धारणा में संदेह व्यक्त कर सकने की स्थिति में रहूं, इसे वह 'प्यार भरा विवाद' कहता है।" यह जिंदगी के इस दार्शनिक नये तरीके की बड़ी हिमायत करता है। यास्पर्स अपनी दार्शनिक चेष्टा में अपने देशवासी नीत्शे की अपेक्षा कीर्केगार्द के अधिक नजदीक था, उसने बीस से अधिक ग्रंथों में परिपाटी का घोर विरोध करते हुए मनोविज्ञान की आवश्यकता को रेखांकित किया। डॉ० राधाकृष्णन् ने यास्पर्स के विषय में अत्यंत छोटे-से परिच्छेद में बहुत स्पष्ट बात लिखी है—"कार्ल यास्पर्स की दृष्टि में अस्तित्व कोई विचार नहीं, बल्कि अनुभूति का सर्वाधिक ठोस रूप है। इसका रूप सूक्ष्म विचारों की तरह निराकार नहीं होता। इस विश्व में अपने को ससीम सत्ता के रूप में जानना, उस विश्व में जो हमारी स्वतंत्रता को उपहित करता है, सबसे बड़ी बात है कि हमारा अस्तित्व सब कुछ को अतिक्रांत करता है। जब यास्पर्स अतिक्रांतक (ट्रांसेंडेंट) सत्ता की बात करता है तो किसी अदृश्य की ओर संकेत नहीं करता; बल्कि अपने अस्तित्व को उलांघने की बात करता है। जीवन के निरर्थक होने का बोध हमें एक ऐसी सत्ता की ओर जागरूक बनाता है जो सृजन की संभावना, अर्थ और आशा से भरी है।"[1]

यास्पर्स ने आंतरिकता, स्वतंत्रता और वैयक्तिकता की जैसी भी हिमायत की हो, इतना सत्य है कि उसने जिस अतिक्रांतक सत्ता की बात की वह घूम-फिरकर उसी पुरानी धारणा से जुड़ जाता है जिसे अब तक ईश्वर कहा जाता रहा है। एच० जे० ब्लाखम का कथन उचित लगता है कि "उसकी सबसे बड़ी गलती एक ऐसी अतिक्रांतक सत्ता में विश्वास है जो मुक्तिप्रदाता ईसाइयत द्वारा स्वीकृत ईश्वर के स्थान पर शक्तिहीन, नपुंसक और इसी कारण भद्दा मजाक-जैसा लगता है।"[2]

हेडगर ने अस्तित्ववादी दर्शन को और भी अधिक गहराई और समृद्धि प्रदान की। उसने कीर्केगार्द को एक धार्मिक चिंतक कहकर दरकिनार कर दिया और नीत्शे को अपनी धारणाओं की आधारशिला बनाया। नीत्शे के नारे को कि 'ईश्वर मर चुका है' उसने प्रस्थान-बिंदु मानकर एक नयी विचारधारा का निर्माण किया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यास्पर्स और हेडगर को अस्तित्ववादी विचारधारा की दो महान् उपलब्धियां मानकर युगपत् रूप में साथ-साथ रखा जाता है जब कि दोनों के चिंतन में बहुत बड़ा विरोध और अंतर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। "नीत्शे के व्यक्तित्व में इन दोनों ने प्रतिद्वंद्वी बिंब देखे जो इन्हीं की अपनी छवियां

1. रिलिजन ऍंड कल्चर, पृ० 106
2. सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ० 63

थी। हेडगर कहता है कि यास्पर्स अपने दर्शन में अनंत तर्कों की परंपरा के बाद भी कोई दर्शन निर्मित नहीं कर पाता और अंततः उतना ही अनिर्णयात्मक रहता है जितना उसका नीत्शे, जब कि यास्पर्स हेडगर के बारे में कहता है कि यद्यपि हेडगर ने ऐसे शब्दों का प्रयोग करके एक चिंतन उपस्थित करना चाहा जो अस्तित्व-वादी लगते हैं; परंतु वह अंततः एक खाली तत्त्वदर्शी (मेटाफिजिशिएन) रहता है जैसा कि उसका नीत्शे।"[1]

हेडगर अपने को अस्तित्ववादी नहीं मानता। उसने अपने एक निबंध 'ऑन ह्यूमनिज्म' में, जो सार्त्र के प्रसिद्ध भाषण 'अस्तित्ववाद मानववाद है' के जवाब में लिखा था, कहा कि सार्त्र ने अपना प्रसिद्ध चिंतन इस मूल वाक्य पर केंद्रित किया है कि अस्तित्व गुणत्व के पहले से है (एक्जिस्टेंस पेसीडस एसेंस) हेडगर कहता है कि प्लेटो के समय से चले आये वाक्य को ठीक उल्टा करके सार्त्र ने जो दर्शन गढ़ा है वह उतना ही अबूझ है जितना कोई तत्त्वदर्शन होता है। जो हो, यह वाक्य सार्त्र के दर्शन के लिए बहुत मौजू है क्योंकि सार्त्र अपने को अस्तित्ववादी कहता है, मेरे लिए यह स्वीकार्य नहीं है। सच पूछा जाय तो हेडगर का दर्शन अस्तित्ववाद के कुछ तत्त्वों को समझने मे सहायक है, वह अस्तित्ववादी दर्शन नहीं है। वह बहुत ठीक कहता है कि मेरी परेशानियां, सावधानताएं, प्रयत्न, चिंताएं सभी-कुछ मेरे अस्तित्व की पद्धति के उदाहरण हैं। मेरा निकटतम संसार इन परेशानियों और प्रयत्नों का संसार है। वह वह नहीं है जो पदार्थों के रूप में मुझसे निकटतम दिखाई पड़ता है।

हेडगर की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने भाषा की सही सीमा को पहचाना। उसने स्पष्ट स्वीकार किया कि भाषा पदार्थों से अपना संबंध खो चुकी है। वह मानता है कि मानव-अस्तित्व अनियत है। अधिक-से-अधिक मनुष्य क्या है? एक संभावना, कुछ हो सकने की शक्ति, इसी कारण उसकी संभावनाएं उसके चुनाव (च्वायस) का विषय हो सकती हैं, किंतु मनुष्य का जगत् में होना उसके अपने अस्तित्व को चुनौती है। क्योंकि इस 'होने' का स्वाभाविक परिणाम है वह त्रास (ड्रेड) जो हमें एकांत की ओर आने के लिए विवश करता है। त्रास भय से अलग होता है। भय का हम कारण और आधार ढूंढ़ सकते हैं पर त्रास वह वस्तु है जो स्थानिक नहीं हो सकती, जिसका कारण नहीं ढूंढ़ा जा सकता, जो हमें संसार से कटकर एकांत में जाने और सोचने-विचारने के लिए विवश करता है। हम त्रास के बारे में सिर्फ इतना निर्णय दे सकते हैं कि यह हमारे जगत् में होने का स्वाभाविक नतीजा है। हेडगर मानता है कि त्रास के कारण ही अस्तित्व (DASEIN) का उन्मीलन होता है। अस्तित्व निर्मित या पूर्ण चीज नहीं है। यह एक भविष्योन्मुख

1. एक्जिस्टेंशियलिज्म फ्रॉम दॉस्तोवस्की टू सार्त्र, पृ० 34

संभावना है, मृत्यु इसे स्थगित कर सकती है, विनष्ट नहीं; क्योंकि मृत्यु अस्तित्व की सबसे अटल संभावना है। त्रास, भय, मृत्यु को आमने-सामने रखकर हेडगर ने यह घोषणा की कि अस्तित्व एक अरक्षित विजय-यात्रा है, कभी भी संपूर्ण विजय नहीं।

सार्त्र इन सारी चीजों को एकदम नये ढंग और अंदाज में उपस्थित करता है। सच पूछिए तो वह अस्तित्ववाद का आधिकारिक प्रवक्ता है। सार्त्र ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी मानवता में विश्वास करनेवाला प्रतिबद्ध व्यक्ति है। कीर्केगार्द ने भी अस्तित्ववादी त्रास का वर्णन किया था। उसका त्रास एक ऐसी चीज है जो मनुष्य को अपने से बाहर एक आस्था के राज्य में छलांग लगाने के लिए विवश करती है। कीर्केगार्द की कृति 'द कंसेप्ट ऑफ ड्रेड' के अंत में लिखा गया है—"त्रास का पूरा मनोविज्ञान जानकर यह चीज तत्त्वाध्येताओं के सामने फेंक देने की है।"[1] सार्त्र इन त्रास, वेदना और उबकाई पैदा करनेवाली स्थितियों से न सिर्फ परिचित था बल्कि इन्हीं के भीतर से गुजरा। इसी कारण वह कहता है कि आस्था का अब कोई प्रश्न ही नहीं है। हमारे लिए, यदि ईश्वर हो भी तो यह तय करने की जरूरत है कि हम स्वयं अपने उद्धारक हैं। हमें इतना विश्वस्त होना होगा कि यथार्थ का सामना कर सकें; केवल सांत्वना देने वाली पुराकथाओं से अब कुछ नहीं होने का। सार्त्र के लिए सबसे बड़ी चीज मनुष्य की निजी आंतरिकता और स्वतंत्रता है। वह वरण के अधिकार को किसी भी हालत में छोड़ने को तैयार नहीं। उसकी प्रतिबद्धता का बहुत गलत अर्थ लगाया गया है। प्रतिबद्ध होने का अर्थ किसी मतवाद के प्रति प्रतिबद्ध होना नहीं है क्योंकि यह तो परिपाटी-निर्मित लबादे को पहनने-जैसा होगा। प्रतिबद्धता अपनी स्वतंत्रता के प्रति और वरण की आजादी के प्रति होनी चाहिए। सार्त्र ने लिखा है—"सौंदर्यात्मक अस्तित्ववाद, जिसका मैं प्रतिनिधि हूं, पूर्ण संगति के साथ उद्घोषित करता है कि यदि ईश्वर नहीं है तो भी एक ऐसा जीव जरूर है जो परिभाषित होने के पहले वजूद में आता है, वह है मनुष्य या कि जैसा हेडगर ने कहा 'मानवीय यथार्थ'। जब हम कहते हैं कि अस्तित्व गुणत्व के पहले है तो इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अस्तित्व में आता है, अपने से टकराता है, विश्व की आपाधापी में आगे बढ़ता है और फिर अपने को परिभाषित करता है। यदि अस्तित्ववादी कहता है कि मनुष्य परिभाषित नहीं किया जा सकता तो इसका अर्थ है कि वह अभी कुछ नहीं है; बाद में चलकर वह जो हो सके, अभी तो कुछ भी नहीं है, बाद में भी वह वही होगा जो वह अपने को बनाना चाहेगा। अतः कोई मानवीय स्वभाव नाम की चीज नहीं होती क्योंकि यहां ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जिसके आधार पर मानवीय

1. कंसेप्ट ऑफ ड्रेड, सं० वाल्टर लारी, 1946, पृ० 145

स्वभाव की कल्पना की जा सके।"[1]

कामू इसी स्थिति को असंगति या ऐब्सर्डिटी कहता है। उसके 'मिथ ऑफ सिसिफस' में इस स्थिति का बहुत सजीव चित्रण हुआ है। हम अस्तित्व की चट्टान को ढोते रहने के लिए अभिशप्त हैं, यह जानते हुए भी कि अस्तित्व न तो कोई नतीजा है न सार्थक अंत। कामू को पढ़ने पर सिर्फ एक आशा की किरण दीखती है कि वह मनुष्य की सब-कुछ सहने की शक्ति में अजीब आस्था रखता था।

काफ्का का 'ट्रायल' इस संसार की बेहूदा शासन-व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। 'कासल' में हम देखते हैं कि जीवन को सार्थकता देने का प्रयत्न कितना असंभव और बेहूदा है। मनुष्य अंदर-अंदर से ही एक द्विधा-विदीर्ण जीवन जीने के लिए अभिशप्त है।

अस्तित्ववादी चिंतकों और लेखकों ने 'एकाकीपन, अजनवियत, उबकाई, असंगति, त्रास, पदार्थीकरण, (वर्दिऐंफ) वेदना, निरर्थकता आदि शब्दों के द्वारा आज की जिंदगी को एक नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। उन्होंने मनुष्य की अब तक की गयी घटाटोप परिभाषा को एक ओर रखकर जिंदगी को बेलौस और बेदाक ढंग से अपनी भोगी हुई अनुभूतियों के बल पर समझने और समझाने का प्रयत्न किया। अस्तित्ववाद की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आज के वातावरण में मनुष्य के अपने और समाज से हुए अलगाव को रेखांकित किया। इस चिंतनधारा का उद्देश्य समस्याओं का कोई पिटा-पिटाया समाधान प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि प्रश्नों को इस तरह उठाना था कि मानव मन में अपनी उग्रता का रूप ग्रहण करें, उसे पूर्णतः समेट लें और इनसे टकराने की अपनी नियति के प्रति आदमी ज्यादा संवेदनात्मक ढंग से जागरूक हो सके। अस्तित्ववाद इसी कारण प्रत्येक दर्शन का प्रस्थान-बिंदु बन जाता है क्योंकि यह अस्तित्व से संबंधित प्रश्नों को इस ढंग से सामने रखता है कि पहले के समाधान रद्दी और व्यर्थ लगने लगते हैं।

इस चिंतनधारा का बहुत व्यापक प्रभाव यूरोप के वातावरण पर पड़ा; किंतु क्या यह दृष्टिकोण आज की हमारी परिस्थितियों में भी कुछ अर्थ रखता है। आज का भारतीय परिवेश बहुत उलझा और पेचीदा होता जा रहा है। कथनी और करनी में इतना विशाल अंतर है कि उसके पाटने की संभावना भी अब खत्म होती जा रही है, अतः यह लाजिमी है कि इस चिंतनधारा का प्रभाव भारतीय बौद्धिकों पर पड़े।

जब हम भारतीय परिवेश की ओर नजर उठाते हैं तो लगता है कि सब-कुछ असंगति का प्रसार है, जिसमें अस्तित्ववाद के लिए बड़ी उर्वर भूमि प्रस्तुत है।

1. एक्जिस्टेंशियलिज्म फ्रॉम दॉस्तोवस्की टु सार्त्र, पृ॰ 290-291

जिस समाज में भाषा तथ्य को वहन करने में असमर्थ हो जाती है, वहां असंगति का दर्शन अपने-आप अवतरित हो जाता है।

पिछले कुछ दिनों से इस समस्या पर बहुत बहस चल रही है कि हम स्वतंत्रता के इन पच्चीस वर्षों में क्या कर पाये ? अब तक जितने अध्ययन और विश्लेषण मेरे देखने में आये, वे इस बात के गवाह हैं कि हर क्षेत्र में हालत पहले से बुरी हुई है। हम अभी-अभी हरितक्रांति के कागजी माहौल से निकले भी नहीं थे कि 1972-73 का वर्ष पुनः अकाल और भिक्षाटन का वर्ष बन गया। बहुत पहले 1965 में अमेरिका के कृषि विभाग के अधिकारी श्री लेस्टर ब्राउन ने अपनी गुप्त रिपोर्ट में सनसनीखेज बात कही थी कि "इस वर्ष भारत हमारी सारी गेहूं-उपज का एक बटा पांच ले रहा है, शेष चार बटे पांच अमेरिका और दूसरे जरूरतमंद देशों के लिए बचता है, 1967-68 तक भारत हमारे गेहूं का एक बटा तीन खा रहा होगा और 1970-71 तक आधा गेहूं इन्हीं को देना होगा।"[1] किसी भी देश की बुभुक्षा का ऐसा शर्मनाक मजाक शायद ही कहीं देखने को मिले। बहरहाल, श्री ब्राउन की सुखद आशंका गलत हुई और हमने '70-'71 में न सिर्फ अमेरिकी गेहूं का आधा खाने से इनकार किया बल्कि एक करोड़ से अधिक शरणार्थियों को भी अपने हिस्से के अन्न में सहभोगी बनाया। किंतु इसी बीच '72-'73 में फिर गेहूं के लिए हमें अमेरिकी बाजार में उतरना पड़ा। प्रश्न यह नहीं है कि हम गेहूं के लिए वहां क्यों गये क्योंकि कोई भी सरकार देश के छप्पन करोड़ लोगों का पेट भरने के लिए यह सब करेगी ही, क्योंकि यह उसका उत्तरदायित्व है; प्रश्न यह है कि क्या हरितक्रांति, जो हुई या जो भविष्य में होगी, हमारी बुभुक्षा को, सामान्य जन की बुभुक्षा को शांत कर पायेगी ? यदि उत्तर हां में हो तो मैं कहूंगा कि अन्न वितरण करनेवाली मशीनरी की, जो है या होगी, कर्तव्यपरायणता और दक्षता में अनपेक्षित विश्वास है। मुझे लगता है कि भारत के अधिकांश जन अन्न के लिए वैसे ही लालायित रहेंगे और राशन की दूकानों पर एक ऐसी बीभत्स तकझक होती रहेगी जहां आदमी जीने के लिए अन्न खोजने की इस दिक्कत से मरने को आसान समझने लगेगा। आपको विश्वास नहीं हो रहा है ? लोहिया ने कभी कहा था—"प्रजातांत्रिक समाजवाद एक नारा मात्र बनकर गूंज रहा है, और 'योजना की सिद्धि', जनता की समृद्धि, आय और संपत्ति का समान वितरण, रंग, जाति और धर्म के भेद के बिना सभी को समान अवसर की उपलब्धि-जैसे नारे गलत हो सिद्ध हुए हैं। समृद्धि तो दूर की बात है अभी तो मनुष्य के रूप में जीना दुर्लभ हो

1. टाइम्स ऑफ इंडिया, 25 नवंबर, 1965

रहा है। 20 करोड़ से लगाकर 30-35 करोड़ आदमी ऐसे हैं जिनके लिए हम बोल सकते हैं कि उनका जीवन ठीक से नहीं चलता, उन्हें खाने को, पेट भरने को नहीं मिलता। यह निश्चित बात है। यह है असली चीज।"[1]

सारा भारत संत्रस्त है कि पसीने की कमाई को दूकान पर ले जाकर हम घी में चरबी, मसाले में बुरादा, चावल में कंकड़, नमक में खड़िया का चूरा, और जाने क्या-क्या के मिश्रण से बना ऐसा अद्भुत माल पा रहे हैं जिसे खाकर जीना दुष्कर और मरना आसान लगता है। पेट भरने की इस असली समस्या को सुलझाने के लिए ही सारा मंडान बांधा गया है। कुछ लोग हैं जो हर समस्या का समाधान पॉकिट में लिये घूमते हैं। इन्हें नेता कहा जाता है। इनके नाम भिन्न-भिन्न हैं, दल भिन्न-भिन्न हैं; पर सब खुलेआम आश्वासन देते हैं कि यदि हमारे दल का शासन हो जाये तो हम रोटी-कपड़े की समस्या खत्म कर देंगे। आजकल 'गरीबी हटाओ' अभियान का जोर है, हम चाहते हैं कि यह सब सफल हो। यह देश भूख की समस्या से मुक्ति पाये और खुशहाल हो।

पर क्या लोकतंत्र यह खुशहाली लायेगा? लोकतंत्र बड़ा लुभावना शब्द है। मैं इस पर चोट करने में स्वयं संकोच का अनुभव कर रहा हूं। बहुत पहले 'क्राइसिस ऑफ इण्डिया' पुस्तक में रोनाल्ड सेगल ने लिखा था कि "वह व्याधि जिससे कुओमिंतांग का ध्वंस हुआ, कांग्रेस को बुरी तरह लग चुकी है और यद्यपि आज की चकाचौंध में सुषुप्त दिल्ली को नॉनकिंग का वह अतीत कोलाहल सुदूर की आवाज लग सकता है, किंतु खतरे की घंटी बजने लगी है, इसमें संदेह नहीं।" यह पढ़कर 'क्राइसिस ऑफ इंडिया' के लेखक पर बड़ा आक्रोश प्रकट किया गया, परंतु कोई इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि कांग्रेस की भ्रष्ट मशीनरी के कारण समूचा ढांचा चरमरा गया है। यह सही है कि यह भ्रष्टता और लोगों में, दूसरी पार्टियों में भी एक समान पायी जाती है; पर सत्ता जिसके हाथ में होती है उसे भ्रष्ट होने के उतने ही अवसर भी सहज उपलब्ध होते हैं। सच तो यह है कि पिछले पच्चीस वर्षों के लोकतंत्र ने सिर्फ एक दिशा में हरित-क्रांति की है—वह है देश के लोगों को सरसब्ज बाग का सपना दिखाने की दिशा, अन्यथा जनता पहले से अधिक श्लथ और निराशाग्रस्त हुई है, इसमें संदेह नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसी स्थिति भारत में पहली बार हुई है? क्या भारतीय जनमानस में इस तरह की निराशाजनक स्थितियां पहले नहीं आयीं और यदि आयीं तो क्या अस्तित्ववाद के समानांतर या उसके पूर्व कोई ऐसी दृष्टि भारत में

1. सरकारी, मठी और कुजात गांधीवादी, पृ० 6

विकसित नहीं हुई जो इस तरह की परिस्थितियों का विश्लेषण कर सके। भारतीय दर्शन का अध्ययन करनेवाले अनेक पश्चिमी विद्वानों ने अस्तित्ववाद को भारतीय दर्शन से जोड़नेवाला सेतु कहा है। भारतीय दर्शन में ऐसे अनेक तत्त्व रहे हैं जो अस्तित्ववाद से मेल खाते हैं। इस दिशा में मार्गरेट एल० बिले ने 'क्रिएटिव स्केप्टिक्स' नामक अपनी पुस्तक के नौवें अध्याय में, जिसका शीर्षक है 'एक्जिस्टैंशियलिज्म : सस्पेंशन ब्रिज टु इंडियन थॉट्स', बहुत विस्तार से विचार किया है। मैं यहां वे बातें दोहराना नहीं चाहता; किन्तु यह सत्य है कि हमारे देश में ऐसे दार्शनिक स्कूल्स हुए हैं जो पोथी-ज्ञान की अपेक्षा संबोधित ज्ञान को ज्यादा महत्त्व देते हैं। जो संदेह को भी एक पद्धति मानते हैं। जैन स्यादवाद मे कई दृष्टि-कोण एक साथ उभरते हैं। बुद्ध के क्षणवाद और दुःखवाद में उनकी अपनी आंत-रिक अनुभूतियों का प्रकाश है। 'नथिंगनेस' और शून्यवाद को जोड़ने की कोशिश की जा सकती है, व्यक्तिवादी स्वरों की तीव्रता भारतीय चिंतकों में विचित्र रूप ग्रहण करती है। एकाकीपन की पीड़ा कबीर के इस दोहे में अपनी मर्मान्तक गहराई छू लेती है :

सुखिया जग संसार है खाये औ सोवै
दुखिया दास कबीर है जागे औ रोवै

किंतु प्राचीन भारतीय चिंतकों को इन तमाम अनुभूतियों के बावजूद एक ऐसी आस्था प्राप्त थी कि वे अपनी विषमता और असंगति-भरे जीवन को किसी अदृश्य सत्ता से जोड़कर सार्थकता और सन्तुलन प्रदान कर लेते थे। भारतीय दर्शन में उस तरह की तीव्र दिशाहीनता, असंगति, अलगाव, भय और त्रास का रूप नहीं मिलेगा जैसा अस्तित्ववादियों ने हमारे सामने उपस्थित किया। मृत्यु भारतीय दर्शन का मुख्य विवेच्य रही; किंतु कभी भी मृत्यु को बहुत बड़ी घटना नहीं माना गया। यह एक अनिवार्यता के रूप में सहज स्वीकृत हो गयी, जबकि अस्तित्वादियों के सामने मृत्यु का साक्षात्कार अस्तित्व को उन्मीलित करनेवाला अवसर बन गया। भारतीय दर्शन ने भी मृत्यु को एक महत्त्वपूर्ण घटना माना; पर उसे नव-जीवन का सुअवसर कहा :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय अवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।।

यहां एक अभूतपूर्व 'देही' में आप्त विश्वास बना रहा। अस्तित्ववादी यह विश्वास लेकर नहीं चलता, क्योंकि वह जन्मांतर में विश्वास करने का कोई आधार ही नहीं देखता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिंतन की परात्पर आशावादिता से काम नहीं चलेगा।

मृत्यु तो फिर भी अबूझ पहेली है। अस्तित्ववादी भी उसके सामने अपनी निरर्थकता का ही बोध करता है; पर क्या समाज में जीवित रहनेवाले व्यक्ति के

लिए मृत्यु से भी ज्यादा दारुण दूसरे प्रत्ययवादों को नहीं भोगना पड़ता। समाज की उलझनों के बीच सबसे बड़ी दारुण स्थिति परस्पर संबंधों में पड़नेवाली गांठ है, एक अलगाव एक अजनबीपन, एक ऐसी स्थिति जहां मनुष्य न सिर्फ समाज से काट दिया जाता है बल्कि स्वयं से कटने के लिए विवश होता है। यह पूरा समाज एक 'नान्य: पंथा:' वाली अंधकारा में बदल जाता है। एक-दूसरे का स्वार्थ एक-दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। हर कोई पदार्थीकृत होकर मानवीय संबंधों से विच्छिन्न हो जाता है।

इस सारी स्थिति को निराला की एक कविता में इस प्रकार देखा जा सकता है :

गहन है यह अंधकारा
स्वार्थ के अवगुंठनों से
हो गया लुंठन हमारा
खड़ी है दीवार जड़ को घेरकर
बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेरकर
इस गगन में नहीं दिनकर
नहीं शशधर, नहीं तारा

इस पूरी कविता में 'अंधकारा' 'मिथ ऑफ सिसिफस' की अंधकारा से शायद ही भिन्न प्रतीत हो। अलगाव अर्थात् 'एलीनिएशन' की स्थिति का बहुत ही अच्छा संकेत 'बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेरकर' में प्रतिध्वनित हो रहा है। परंतु इस कविता के आधार पर निराला को अस्तित्ववादी घोषित करना असंगत होगा, वैसा ही असंगत जैसा 'तोड़ती पत्थर' या 'बादल राग' के आधार पर उन्हें कम्युनिस्ट घोषित करना, वस्तुत: अस्तित्ववादी दृष्टिकोण एक ऐसी सर्वनिष्ठ दृष्टि है जो किसी कवि-कथाकार में देखी जा सकती है—जो अपने अस्तित्व की सहज और निरावृत अभिव्यक्ति करे। हिंदी में अस्तित्ववाद का गहन शोर मचा, बहुतों ने इस वाद का न तो अध्ययन किया था और न तो वे इसके विकास-क्रम से ही परिचित थे; पर फैशन के रूप में इस वाद की चर्चा होती रही। वैसे स्वतंत्रता के बाद की हिंदी-रचनाओं में अस्तित्ववाद के कई पहलू नाना रूपों में प्रतिबिंबित दिखाई पड़ते हैं। अन्वेषक चाहें तो अनेक कहानियां और कविताएं प्रस्तुत करके उनके अस्तित्ववादी होने का ऐलान भी कर सकते हैं; पर सत्य यह है कि हिंदी-क्षेत्र में किसी भी प्रकार के चिंतन का नितांत दारिद्र्य है और यहां चीजें ऊपर से थोपकर प्रदर्शित करने के लिए गढ़ ली जाती हैं। मैं इसी कारण हिंदी साहित्य पर अस्तित्ववाद के प्रभाव को ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं करूंगा। शोधक लोग इस पर कुछ करेंगे ही।

इस संदर्भ में एक अनिवार्य प्रश्न यह उठता है कि अस्तित्ववादी चिंतन हमारे लिए कितना उपयोगी है और उसके साथ संबद्ध होनेवाले व्यक्ति के लिए जोखिम कौन-कौन से हैं। अस्तित्ववाद आज के परिवेश में उलझी हुई स्थितियों को समझने की शक्ति और दिशा देता है। भले ही यह दिशा हमें किसी नतीजे पर न पहुंचा पाये, यह इतना अवबोध तो दे ही देती है कि आदमी चारों ओर छाये हुए मकड़-जाले के बीच झूलती हुई अपनी स्थिति का सही विश्लेषण कर सके। अस्तित्ववाद ने दार्शनिक परिपाटी को तोड़कर जो सहजानुभूतिपरक रास्ता दिखाया, उसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व कुहेलिका का शिकार होने से बच सकता है, भले ही वह व्यक्तित्व त्रास, भय, कुंठा आदि का शिकार होने के कारण सार्थक न लगे। डॉ० राधाकृष्णन् जैसे आस्थावादी दार्शनिक ने भी यह स्पष्ट स्वीकार किया कि "आधुनिक दर्शन के क्षेत्र में प्रत्यक्षवादियों और अस्तित्ववादियों के विद्रोह ने एक स्वस्थ और मुक्तिदायक प्रभाव डाला है। लेकिन हम केवल विद्रोह से ही संतुष्ट नहीं हो सकते, हमें रचनात्मक दर्शन की जरूरत है जो हमें इस विश्व के विषय में ऐसी धारणाएं दे सके जो बहुत हद तक सटीक और सारपूर्ण हों।"[1]

यों तो अस्तित्ववाद के विरोध में उसके जन्मकाल से ही नाना प्रकार के विरोधी मतवाद उठते रहे हैं; किंतु इस दिशा में सबसे अधिक विचारणीय कार्य जे० पाल रिटेलन ने किया। उनकी पुस्तक 'बियंड एक्जिस्टेंशियलिज्म' बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें अस्तित्ववाद की सीमाओं और खतरों की ओर बहुत गहराई से विचार किया गया है। एक जर्मन विद्वान होने के नाते उन्होंने हेडगर और यास्पर्स की स्थापनाओं को आधार बनाया है; पर रिल्के, कीर्केगार्द, नीत्शे और सार्त्र तथा मार्सल को भी सतत दृष्टि में रखा गया है।

रिटेलन की पहली आपत्ति यह है कि अस्तित्ववादी मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व को संतुष्ट करनेवाला सर्वतः पूर्ण कोई चिंतन नहीं दे सके हैं। उन्होंने अस्तित्ववादी दर्शन के तीन प्रमुख सूत्र माने हैं। सत्ता और तर्क के विरोधाभास या अंतर्विरोधों को ही मानवीय सत्ता और तर्क का परिणाम मान लेना और उन्हें आधार मानकर बाकी तमाम चीजों को नकारना अस्तित्ववाद का प्रथम सूत्र है। वे नीत्शे की तरह यह स्वीकार कर लेते हैं कि चिंतक को विश्व को अपने बनाये हुए ढंग से, जो मानवीय सत्ता को समझने में सक्षम है, स्वीकारने का प्रयत्न करना चाहिए, उसे बौद्धिक वाग्जाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। अस्तित्ववाद का दूसरा सूत्र है कि दबाव, तनाव और भय तथा त्रास अनिवार्य है। आज के विश्व में फंसा हुआ मनुष्य

1 रिलिजन ऐंड कल्चर, पृ० 103

पहले की बनी-बनायी ईश्वरीय धारणाओं को स्वीकार नहीं कर सकता, इसलिए आध्यात्मिक व्यक्तित्व का ह्रास अनिवार्य है, यह अस्तित्ववाद का तीसरा सूत्र है। रिटेलन कहते हैं कि इन मिथ्या अधिकारों पर निकाले गये निष्कर्ष का परिणाम होता है आत्मिक अर्थों का नकार, बौद्धिक नियम का अस्वीकार और व्यक्तिगत आत्मा तक का निरादर।

उन्होंने निष्कर्षत: कहा—"आत्मा को पूर्णत: समुद्घाटित करने के स्थान पर और जीवन की परिपूर्णता को पाने के स्थान पर ये दार्शनिक आत्मशक्ति में अविश्वास करते हैं और अपनी सत्तात्मक भयदायक स्थिति के निष्कर्षों को अंतिम सत्य मान लेते हैं। यद्यपि ये सारे निष्कर्ष उनके घटिया बौद्धिक प्रयत्न की स्वाभाविक उपज हैं जिसके द्वारा वे सब-कुछ का ध्वंस करना चाहते हैं। इस प्रकार प्रामाणिक अतिक्रांतक सत्ता के अभाव और शाश्वत एकाकीपन की धारणा के अभाव के कारण, जो अपने अस्तित्व की अंतर्निहित शक्ति से सारे प्रत्यवायों को झेल सकती है, ये बाहरी क्रियाकलापों से अपना संबंध जोड़ सकने में पूर्णत: असफल रहे।"[1]

रिटेलन के मतानुसार भय और त्रास पर विजय पाने के लिए यह जरूरी है कि हम उसका सही अस्तित्ववादी दर्शन ढूंढें। अस्तित्व एक ऐसी वस्तु है जो हमें संकटों से पार करने की प्रेरणा देती है—यदि हम स्वयं इस अस्तित्व को इस तरह के तमाम मूल्यों से वंचित नहीं मान लेते। अस्तित्ववाद जीवन की घनघोर निराशा को रेखांकित करता है और इन्हीं तत्त्वों के रचनात्मक पहलुओं को नकार देता है। क्या भय से केवल त्रास और दु:ख ही उत्पन्न होता है। क्या दु:ख और त्रास केवल टूटन और बिखराव ही पैदा करता है? अस्तित्ववादियों ने सुख, आनंद, उल्लास को एकदम बाहरी चीज मान लिया क्योंकि इन्हें स्वीकार करने का अर्थ होता मूल सत्ता में कुछ मूल्यों को अंतर्निहित मानना, जो अस्तित्ववादियों को, जो अस्तित्व को किसी भी अतिक्रांतक (ट्रांसेडेंटल) चीज से जोड़ना नहीं चाहते, स्वीकार्य नहीं हुआ। यदि इनसे पूछा जाय कि मनुष्य का मूल स्वभाव क्या है तो ये कहेंगे कि वह है वेदना और त्रास। आज के युग में यह उत्तर बहुत स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि आज मानव-सत्ता ऐसी स्थितियों से गुजर रही है कि दूसरा विकल्प सूझता ही नहीं; किंतु यह जान लेना चाहिए कि त्रास सहने की प्रक्रिया मूलत: अरचनात्मक है क्योंकि यह अधिक-से-अधिक बचावात्मक ढंग को अख्तियार कर सकती है।

रिटेलन कहते हैं—"आनंद के अर्थ में प्रक्रिया बिल्कुल उल्टी होती है। यह महज हल्की खुशी से बड़ी चीज है। खुशी से आनंद का मूल्य ज्यादा गहरा है। यह

1. बियंड एक्जिस्टेंशियलिज्म, जार्ज एलन ऐंड अनविन, 1961, पृ० 219

मानव की मूल सत्ता से उभरता है और अनुभूति के विषय में यह मानदंड का कार्य करता है। इसमें खुलापन होता है, रक्षात्मक प्रतिक्रिया नहीं, यह एक अंतरात्मा की प्रतिध्वनि है, जो इससे भी बड़ी चीजों के बारे में वाकिफ है। जो कुछ इस स्थिति में अनुभूत होता है वह सिर्फ चिंताओं से ही मुक्त नहीं करता, यह आंतरिक सीमा-बद्धता की अनुभूति नहीं है, बल्कि यह एक सकारात्मक दृष्टिकोण है जो वेदना की अपेक्षा मनुष्य के लिए ज्यादा स्वाभाविक है।"[1]

रिटेलन एक आस्थावादी दार्शनिक हैं और कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वे ईसाइयत में आस्था रखनेवाले बौद्धिक हैं, इसलिए उन्होंने अपनी दर्शन-अनुशासित प्रज्ञा के माध्यम से अस्तित्ववाद की सीमाओं को दिखाने का जो प्रयत्न किया है, उसमें उनकी आस्था का स्वर बहुत प्रबल है। वे ईसाई नैतिकता के समर्थक हैं, इसलिए उस पर चोट करनेवाली चिंतनधारा का उनका तर्कपूर्ण विरोध अबूझ नहीं है।

प्रश्न यही उठता है कि क्या आज के विश्व में, जिसे स्वयं रिटेलन ने उलझा हुआ स्वीकार किया, किसी अतिक्रांतक सत्ता पर सहज विश्वास संभव है? अस्तित्ववाद के सभी चिंतक ईश्वर में अविश्वास ही करते हों ऐसा भी नहीं। कीर्केगार्द, मार्सल, बर्दिएफ, बूबर आदि ईश्वर में विश्वास करनेवाले लोग थे। ईसाई अस्तित्ववादियों के महत्त्वपूर्ण योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

अस्तित्ववाद के विरोध में अनेक बातें कही गयी हैं और कही जायेंगी। एक ओर कुछ ऐसे उत्साही लोग हैं जो अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद की शाखा मान लेते हैं जबकि मार्क्स से किसी भी अस्तित्ववादी चिंतक के प्रभावित होने की कल्पना करना दोनों ही विचारधाराओं के साथ अन्याय है तो दूसरी ओर हंगरी के सुप्रसिद्ध विचारक लूकाच हैं जिन्होंने अस्तित्ववाद की समीक्षा करते हुए इसे बोर्जुवा बौद्धिकों का अंतिम निष्फल प्रयास कहा, जो भौतिकतावाद और दिवालिये आदर्शवाद के बीच एक तीसरा रास्ता ढूंढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।[2]

अस्तित्ववाद के बारे में जो भी आरोप लगाये जायें, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसने आज के विश्व में मानवीय स्थितियों को देखने का एक नया तरीका दिया और यह सब-कुछ इस तरह सामने आया मानो इस विचारधारा के पीछे जिये हुए अनुभवों की सचाई बोल रही हो, परिणामतः इसका प्रभाव भी बहुत व्यापक पड़ा।

1. बियंड एक्जिस्टेंशियलिज्म, जार्ज एलन ऐंड अनविन, पृ० 222
2. सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ० 156

अस्तित्ववादी
चिंतक

टूटे रथचक्रों का सारथी : कीर्केगार्द

"कटु ? नहीं, कटु नहीं—लेकिन आहत, दुखी और बेहद विक्षुब्ध !" यह थी कीर्केगार्द की जीवन-भर की मानसिक उपलब्धि—उसी के शब्दों में—मृत्यु-शय्या पर घोषित एक अंतर्मुखी चिंतक जो अपने जीवनकाल में (5 मई, 1813—11 नवंबर 1855 तक) भी अपने ही देश में उपेक्षा, विरोध और चतुर्दिक् निंदा का ही पात्र रहा। सन् 1937 तक उसकी कोई कृति अंग्रेजी तक में अनूदित नहीं हुई थी। लेकिन प्रथम बार उसकी कृतियां अनूदित होते ही सारे संसार के श्रेष्ठ चिंतकों और लेखकों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ और माना गया कि जिस अस्तित्ववादी चिंतन-धारा का आज इतना प्रभाव है, उसका प्रवर्तन कीर्केगार्द के चिंतन में ही हो चुका था। यह भी एक अत्यंत रोचक तथ्य है कि कीर्केगार्द की सबसे प्रख्यात कृति ठीक उसी वर्ष डेनमार्क में प्रकाशित हुई थी, जिस वर्ष कार्ल मार्क्स ने कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो प्रकाशित किया था। कौन जानता था कि कीर्केगार्द की यह बहु-निंदित कृति लगभग 100 वर्ष बाद समस्त संसार में न केवल मान्यता प्राप्त करेगी, वरन् समस्त पाश्चात्य लेखन और चिंतन को इस तरह प्रभावित करेगी !

•

आज सब जगह, सभी क्षेत्रों में 'नया' या 'नयी' विशेषण हमारे जीवन का अविभाज्य अंग बन गया है। कुछ इसे फैशन कहते हैं, कुछ ईमानदारी और आत्मा की पुकार। नये और पुराने का झगड़ा पहली बार उठा है, ऐसा भी नहीं। जब कालिदास ने कहा था कि हर पुरानी चीज अच्छी ही नहीं और नयी बुरी ही नहीं होती, तो उनके सामने भी यही प्रश्न था। पर आज इस प्रश्न की भूमिका बदल

गयी है। नये और पुराने का तब एक मानदंड था और वह था धर्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान रहनेवाला धर्म! तब लोगों के मन में एक और अदृश्य तत्त्व भी था जो सब-कुछ का फैसला कर सकता था, पाप और अपराध को क्षमा कर सकता था, वह था ईश्वर! पर आज ये दोनों ही शब्द बेमानी हैं। नीत्शे ने कहा था कि ईश्वर मर चुका है। मार्क्स ने धर्म को न केवल अनावश्यक कहा बल्कि गलत दिशा में ले जानेवाली भ्रामक वस्तु माना।

धर्म का स्थान लिया विज्ञान ने और ईश्वर का सभी मनुष्यों में व्याप्त 'विश्वात्मा' ने। किंतु विज्ञान ने समाज को 'धारण' करने की जगह विनाश की ओर झोंकने की भूमिका अदा की और 'हीगेल की विश्वात्मा' का स्वप्न मार्क्सवाद में उतरकर 'व्यक्ति' को मशीनी पुर्जा बनाने की दुरभिसंधि करने लगा। विज्ञान ने एक ओर हमें प्रकृति के गर्भ में सोयी अनन्त शक्तियों का परिचय कराया, देश और काल की व्यापक दूरी को न्यून करके मनुष्य के बीच निकटतर संपर्क कायम कराया, किंतु दूसरी ओर आत्मा के बीच व्याप्त तादात्म्य को नष्ट करने लगा और एक समय ऐसा भी आया कि भौतिक समृद्धि से घिरा हुआ मनुष्य आंतरिक प्यास से छटपटाने लगा। व्यक्ति-व्यक्ति के मन में स्पर्धा जगी, अदृश्य संबंध के रेशे टूटने लगे और यूरोप में दो-दो भयंकर महासमर हुए जिन्होंने समूचे विश्व में परंपरागत मूल्यों के विघटन का आश्चर्यजनक काम किया। मनुष्य को इस विनिपात से बचाने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न हुए, पर सभी उसके मन और तन को शांति और सुख देने की जगह उलझन और पीड़ा में लपेटते रहे। साम्यवाद व्यक्तिगत मूल्यों का हत्यारा बना, प्रजातंत्र कुछ चुने हुए लोगों का ढोंग। दोनों ने ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपेक्षा की और उसे अपने-अपने ढंग से निश्चित अभिप्रायों के लिए प्रयुक्त किया। यानी आज एक साथ क्षमाशील ईश्वर, नैतिकता का स्रोत धर्म, प्राकृतिक शक्तियों पर विजय-दुंदुभि बजानेवाला विज्ञान, समता और व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा करनेवाले राजनीतिक मतवाद—सभी के सभी टूटकर भहरा चुके हैं। मनुष्य की अप्रतिहत विजय-यात्रा के सांस्कृतिक रथ के पहिये टूक-टूक हो चुके हैं।

फिर मनुष्य क्या करे? इस ध्वंस, पतन और विघटन के युग में अपनी जिंदगी को वह किस प्रकार अर्थपूर्ण बना सके? यही प्रश्न है जिसे एक शब्द में 'आधुनिक बोध' कहा जाता है।

इस आधुनिक भावबोध को सचेत सत्ता के रूप में विकसित करनेवाले या इसके विकास में योग देनेवाले अनेक लोग हैं। इन सबके भीतर यह आधुनिक भावबोध अपने-अपने ढंग से जन्मा और पनपा, क्योंकि आधुनिक भावबोध की यह पहली शर्त है कि ऊपर से आरोपित कोई भी समाधान मनुष्य को और उसकी जिंदगी को सार्थकता प्रदान नहीं कर सकता। हर व्यक्ति को अपना 'क्रूस'

स्वयं ही ढोना पड़ेगा। चाहे वह कीर्केगार्द हो या दॉस्तोवस्की, नीत्शे हो या यास्पर्स, हेडगर हो या सार्त्र, युंग हो या कामू, काफ्का, रिल्के, आन्द्रे जीद, ग्रेहम ग्रीन या वह कोई विचारक, चिंतन या सचेत सृजक हों, सबको अपने युग के इस प्रश्न का अपने ढंग से उत्तर ढूढ़ना होगा। कीर्केगार्द ने दॉस्तोवस्की का नाम भी नहीं सुना था। 1864 ई० में जब दॉस्तोवस्की का 'नोट्स ऑफ अंडरग्राउंड' छपा तो कीर्केगार्द को मरे नौ साल बीत चुके थे। दोनों अलग-अलग दो परिस्थितियों में जन्मे, जिये, मगर विघटनवादी युग के प्रति दोनों के मन में एक-जैसी विद्रोहपूर्ण प्रतिक्रिया का जन्म हुआ। उपर्युक्त सभी चिंतकों की परिस्थितियां, समस्याएं, यहां तक कि उनका अन्वेषण और समाधान एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न है, पर एक बात जो सर्वश्रेष्ठ है वह यह कि ये सभी आज की परिस्थिति में अपनी सारी पीड़ा, व्यथा और भोग्य को अपने में समेटे मनुष्य के जीवन को एक निश्चित आशय और अर्थ देने के लिए प्रयत्नशील थे। इसलिए हमारे लिए आवश्यक यह है कि हम इनके दर्शन को 'वाक्‌निकाय' के रूप में सहज स्वीकार न करें; बल्कि यह देखने का प्रयत्न करें कि यह आधुनिक दृष्टि उनके जीवन के भीतर से किस प्रकार उगी, पनपी और पल्लवित हुई।

कीर्केगार्द इस नयी चेतना का प्रथम द्रष्टा था। उसकी 'अनुपम वैयक्तिकता' किसी भी व्यक्ति के लिए स्पर्धा की वस्तु हो सकती है। वह एक सर्वसामान्य व्यक्ति नहीं, 'वह व्यक्ति' था जिसे यास्पर्स इस युग का सबसे बड़ा मौलिक चिंतक मानता है। वह आधुनिक भावबोध का जन्मदाता था। यास्पर्स, हेडगर, सार्त्र, कामू सभी उससे प्रभावित थे; किंतु सबसे बड़ी बात यह, जो वाल्टर काफमैन ने कही कि, "समूचे आधुनिक साहित्य और दर्शन पर किसी भी परवर्ती दार्शनिक ने ऐसी छाप नहीं छोड़ी जैसी कि कीर्केगार्द ने।"[1]

"मुझे खुशी है कि मेरी मृत्यु के बाद किसी को भी मेरे कागजों में ऐसा कुछ न मिलेगा जो उस मौलिक वस्तु के बारे में संकेत दे सके, जिससे मेरा जीवन भरा हुआ है और न तो उन्हें मेरे अंतर्तम की लिखी वे चीजें ही मिलेंगी जो उन्हें बता सके कि संसार जिन्हें मामूली कहता था, वे मेरे लिए कितनी महत्त्वपूर्ण घटनाएं थीं और उसकी महत्त्वपूर्ण घटनाएं मेरे निकट कितनी अपदार्थ !"

—सोरेन कीर्केगार्द

5 मई, 1963 को सारे विश्व में सोरेन कीर्केगार्द की 150वीं जयंती मनायी गयी। सोरेन कीर्केगार्द का व्यक्तित्व विरोधाभासों का अजीब सम्मिश्रण

1. काफमैन, एक्जिस्टेंशियलिज्म फ्रॉम दॉस्तोवस्की टु सार्त्र, पृ० 50

था। वह एक ऐसे समाज में पैदा हुआ जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से पंगु था, अंधविश्वासों से आक्रांत था, तो दूसरी ओर विज्ञान के नवोन्मेष के साथ ही जहां आधुनिकता की हवाएं चलने लगी थी। किंतु ये हवाएं, लोगों के मन और आत्मा में स्वच्छ प्राणवायु का संचार नहीं, एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर रही थी जिसमें कृत्रिम रूप से सांस लेना 'फैशन' की बात मानी जाती थी। सभी प्रकार के बनावटी आचार-व्यवहारों के बीच सिसकती हुई जन-चेतना के लिए राहत और शांति के सिर्फ दो मार्ग बच गये थे—एक था लोकजीवन की लुप्तप्राय स्मृति में छिपा हुआ धूमिल परीलोक, जहां सहज जीवन और ईमानदार आचार-व्यवहार पशुओं की कथाओं में ही जीवित था; दूसरा आत्म-पीड़ा और आस्था के बीच विदीर्ण होता हुआ अध्यात्मलोक, जिसका पथ कृपाण की धार की तरह जोखम और खतरों से भरा था क्योंकि जरा भी इधर-उधर होने पर एक तरफ या तो रूढ़िवादी कर्मकांडी पौराणिकता के दलदल में गिरना होता, जो किसी भी सचेत और जागरूक प्राणी के लिए आत्मघात के बराबर था या दूसरी तरफ उस अंध-गुफा की शरण लेनी होती जहां वैश्विक हलचलों और समस्याओं से निरपेक्ष होकर आत्मकेंद्रित रहने को ही वास्तविक शांति मानने का नाटक करना होता। उन दिनों डेनमार्क में जन-चेतना के प्रथम रूप का प्रतिनिधित्व हैन्स एण्डरसन और दूसरे का सोरेन कीर्केगार्द कर रहे थे। सोरेन कीर्केगार्द की तरह हैन्स एण्डरसन का जीवन भी क्रमबद्ध दुखों का ही उदाहरण था। उनका जन्म जूते बनानेवाले मोची परिवार में हुआ। एक छोटे-से कमरे में परिवार के अनेक व्यक्तियों को गुड़मुड़कर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। 1816 में जब हैन्स के पिता की मृत्यु हुई, तो वे भी वैसे ही विक्षिप्त हो गये थे जैसे अपने पिता की मृत्यु पर कीर्केगार्द। 1819 में हैन्स जब कोपेनहेगन पहुंचे, तो लोगों ने पागल समझकर उनका मजाक उड़ाया। उनकी शिक्षा का प्रबंध सम्राट् फ्रेडरिक छठे की कृपा से हो सका, परंतु बहुत बाद में। परीकथाओं के कारण उनकी ख्याति ग्रिम-बंधुओं की तरह ही सारे यूरोप में छा गयी। सोरेन के मन में हैन्स के प्रति श्रद्धा न थी ऐसी बात नहीं; पर वे चाहकर भी समाज की स्थिति और उससे उत्पन्न कड़वाहट को परीकथाओं के स्वप्नलोक के मधु-स्रोतों में घुला न सके। उन्होंने इसी बात को लक्ष्य करते हुए 1847 में अपनी डायरी में एक स्थान पर लिखा—"एंडरसन बड़ी आसानी से एक कहानी कह देंगे जिसका शीर्षक होगा 'भाग्य के जूते' (गैलोशेज ऑफ फारचून)। मैं भी एक कहानी कह सकता हूं, पर उस जूते के विषय में जो एड़ियों को दबाता है (अभाव की पीड़ा पर)। कह सकता था, पर मैं ऐसा नहीं करूंगा, क्योंकि मैं इस पीड़ा को गहरे मौन के भीतर दफन कर देना चाहता हूं और दूसरे यह कि मैं अन्य दूसरी बातों के बारे में भी बहुत-कुछ कह सकता हूं।"

सोरेन मुख्यतया चिंतक थे, चिंतक—जिसकी सारी उपलब्धि उसके हृदय

की पीड़ा के बीच से उपजती-पनपती है। पीड़ा और उदासी जैसे बचपन से ही उनकी चिरसंगिनी के रूप में उत्पन्न हुई थीं। इस पीड़ा को उन्होंने धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग समझ लिया। इसे वे ईश्वरीय वरदान मानने लगे। 1841 में अपनी डायरी में पीड़ा और उदासी के विषय में अपनी निरुद्वेग प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा—"जब ईश्वर किसी व्यक्ति को अपने से मिला लेना चाहता है तो वह अपनी सर्वाधिक विश्वस्त परिचारिका 'उदासी' को बुलाकर कहता है—है, जल्दी करो, उसे ग्रहण कर लो, देखो कभी उसकी बगल से हटना मत। और सच, संसार की कोई भी नारी अपने प्रेमी को ऐसा मृदु आलिंगन नहीं दे सकती जैसा कि यह उदासी।"

यह उदासी सोरेन को बचपन में ही अपने आलिंगन में लेने के लिए मचल उठी। उनके पिता खुद इस 'अमुखर उदासी' के प्रेम-पात्र थे। सोरेन ने अपने और पिता के बीच निरंतर विद्यमान इस अमूल्य कड़ी को संजीदगी के साथ समझा और हमेशा गोपनीय रहनेवाली अपनी डायरी में (कीर्केगार्द की धारणा थी, यह डायरी कभी कोई देख न पायेगा) इस स्थिति को इन शब्दों में उपस्थित किया—"पिता-पुत्र कभी भी अपनी 'अमुखर उदासी' के बारे में एक-दूसरे से बातें न करते थे क्योंकि पिता सोचते कि पुत्र की उदासी के मूल कारण वे ही हैं, जबकि पुत्र पिता की उदासी का कारण स्वयं को मानता।—कभी-कभी मुद्दत के बाद पिता पुत्र के सामने खड़े हो उसे परेशान देखकर कहते—"आह बेचारा! कैसी मौन उदासी में घुट रहा है।" क्या सचमुच यह सांत्वना अपनी उदासी का ही इजहार नहीं करती होती? वस्तुतः यह पिता के हृदय की निजी उदासी की ही अभिव्यक्ति होती, इसलिए उस समय भी पिता पुत्र से नहीं, सच कहा जाये तो अपने से ही बात करते होते।

"मानवीय दृष्टिकोण से मैं जो कुछ हूं अपने पिता के कारण हूं। उन्होंने हर प्रकार से मुझे इतना दुखी होने दिया, जितना हुआ जा सकता है। उन्होंने मेरे यौवन को अनुपम मानसिक अनुताप में झोंक दिया। उन्होंने आंतरिक रूप से मुझे ईसाइयत के प्रपंचों की ओर अग्रसर बनाया या कि मैं प्रपंच का शिकार बना, फिर भी मैंने इसके बारे में किसी से कभी एक शब्द भी न कहा और यह पिता के प्रति मेरे प्रेम का ही सबूत है कि मैंने ईसाइयत को उसके वास्तविक सही रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया, उन लोगों के विरोध के सामने, जो इसे निरर्थक बेवकूफी बनाकर प्रस्तुत करते थे। यह सब होने पर भी, वे सर्वश्रेष्ठ ममतालु पिता थे जिनके लिए मेरे भीतर हमेशा गहरी आकांक्षा रही है और रहेगी और जिन्हें मैं कभी भी सुबह-शाम आदर से याद करना भूला नहीं हूं।"

सॉरेन कीर्केगार्द अपनी इसी 'अमुखर उदासी' को झेलकर जीवन के सत्य का दर्शन कर सके। वे अस्तित्ववादी दर्शन के संस्थापक बने, किंतु उनके अंदर परवर्ती अस्तित्ववादियों की 'नान्य: पंथा:' वाली कुंठा न थी। वे जीवन की विषमताओं और कड़वाहटों से ऊबकर बहुमूल्य मानव-जीवन को 'ऐब्सर्ड' मानकर चलनेवाले चिंतक नहीं थे। वे जीवन की उदासी के बीच प्रखर बौद्धिक चेतना जगाने में समर्थ हुए। उन्होंने स्वयं लिखा है, "इसमें क्या आश्चर्य कि इस निराश ध्वंसता में मैंने मनुष्य के बौद्धिक स्तर को ग्रहण कर लिया और उससे इस तरह चिपका रहा कि मेरे लिए मेरी यह बौद्धिक चेतना ही संतोष का एकमात्र आधार बन गयी।" यह सच है कि उनके मन में आदमी की क्षुद्रता, निकृष्टता और मनुष्यहीनता ने एक अजीब तटस्थता पैदा कर दी या उन्हें व्यंग्यात्मक आचरण के लिए विवश किया; किंतु इस तटस्थता और व्यंग्यात्मकता के बीच उनकी आत्मा का दर्द और दर्द की सचेत मुक्ति कभी कम न हुई। "मेरे हृदय में आरंभिक बचपन से ही दुख का एक तीखा कांटा धंस गया है। जब तक यह धंसा है, मैं व्यंग्यात्मक लगता हूं, जब यह निकलेगा मैं मर जाऊंगा।"

यह शायद पोप ने कहा है कि व्यंग्य मासूम और दुखी जनों के हाथ का सबसे बड़ा शस्त्र है। इस शस्त्र को सोरेन ने भी उठाया, किंतु उन्होंने कभी भी इसका प्रयोग अपनी स्वार्थसिद्धि और सद् के विनाश के लिए नहीं किया। यह नश्तर अपनी तेज धार से हमेशा ही व्यक्ति और समाज के भीतर फफोले की तरह व्याप्त अवांछित विषैले जहर को निकालने का ही काम करता रहा। यह लेखक का अपना दर्द ही था कि उसे यह कहने को विवश किया कि, "मैं या तो बूढ़ियों के साथ बात करना पसंद करता हूं जो निर्द्वंद्व भाव से घरेलू गपशप सुनाती रहती हैं, या फिर पागलों से या अंतत: बहुत सचेत और जागरूक लोगों से ही।" सोरेन कीर्केगार्द अपने जीवन को व्यंग्य की बेहतरीन उपज मानते थे। इस व्यंग्य का रूप सामान्य लोगों की दिखावटी आदतों के कारण तीखा होता गया। इसी ने उन्हें उन तमाम घटनाओं और शब्दों पर नये सिरे से सोचने के लिए विवश किया जिन्हें हमने बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण नाम दे रखे हैं। पड़ोसी, नैतिकता, सहानुभूति आदि शब्द अपना असली अर्थ खो चुके हैं, यह क्षुद्र लोगों की स्वार्थ-भावना ही है कि इन्हें अपने मन के परितोष के लिए आकर्षण का जामा पहनाती रहती है। इस तरह के लोग अपने को 'मौलिक' समझते हैं और मनुष्य की स्वतंत्रता का ढिंढोरा पीटते हैं। क्या होती है यह स्वतंत्रता? सोरेन ने विद्रूप चेहरा बनाते हुए कहा, "मनुष्य कभी भी अपनी स्वतंत्रता का उपयोग नहीं करता; उदाहरण के लिए वाक् की स्वतंत्रता सभी मांगते हैं, पर विचार की स्वतंत्रता कम चाहते हैं।"

यह व्यंग्य और विद्रूप धीरे-धीरे उनकी आत्मा में घर करता गया। उन्हें लगने लगा कि जन्म नियति द्वारा लादा हुआ एक दंड है और इसके लिए हर

व्यक्ति दुनिया से बदला लेता है। "हर आदमी दुनिया से अपना बदला लेता है। मेरा बदला है अपने दुख और पीड़ा को अपने अंततम की पूरी गहराई से सहना और अपनी हंसी से सबको खुश करने का प्रयत्न करना। मैं जब भी किसी को दुखी देखता हूं, सहानुभूति देता हूं, अपनी पूरी योग्यता से उसे सांत्वना देता हूं और बड़े ध्यान से सुनता हूं जब वह मुझे विश्वास दिलाते हुए कहता होता है कि मैं (सोरेन) बड़ा भाग्यशाली हूं। मैं अपनी इस 'भाग्यशालिता' को यदि जिंदगी के आखिरी क्षणों तक छिपाये रह सका तो यही दुनिया मे मेरा प्रतिशोध होगा।"[1]

सोरेन कीर्केगार्द अपनी वैचारिक उत्तेजना और रचनात्मक प्रक्रिया के लिए जीवन के भूकंपों के ऋणी थे। वे भूकंप को प्रतिभा की चरितार्थता के लिए आवश्यक मानते थे। भूकंप यानी अस्तित्व को हिला देनेवाली घटनाएं। उनके खुद के जीवन में इस प्रकार के चार भूकंप आये। पहला अगस्त 1838 में, जब उनके पिता का देहांत हुआ। दूसरा 1845 में, जब उन्होंने 'कोरसेयर' के शक्तिशाली संपादक और गोल्डस्मित को नाराज कर लिया और उसने अपने तीखे निंदात्मक आक्रमणों से सोरेन को नगर का सबसे बड़ा उपहासास्पद व्यक्ति बना दिया। तीसरा 1848 में, जब उनकी प्रेमिका रेगिना ओल्सेन से संबंध भंग हुआ और चौथा 1855 में, जब उन्होंने बिशप माइन्स्टर की मृत्यु पर दी गयी श्रद्धांजलि के विरोध में 'सच्ची ईसाइयत' शीर्षक से कई लेख लिखे जिन्होंने पूरे ईसाई पौरोहित्य को झिंझोड़कर रख दिया। प्रत्याक्रमणों के दबाव के नीचे सोरेन की शक्ति टूटती गयी और उसी वर्ष 11 नवंबर को फ्रेडरिक अस्पताल में विरोधों से जूझती उनकी आत्मा चिरनिद्रा में डूब गयी।

अपने से अलग की बाहरी घटनाओं से शायद ही कोई लेखक इतना प्रभावित हुआ हो जितना कीर्केगार्द। इस 'भूकंप' शब्द की अवतारणा भी उन्होंने वास्तविक भूकंप को देखकर ही की थी। जोरगेन बश के शब्दों में, "भले ही आज के क्षणों में, समय की दूरी के कारण ये घटनाएं हमें बहुत छोटी लगें, किंतु उनकी विभीषिका का सही अनुमान तो सोरेन के व्यक्तित्व से लगाया जाना चाहिए, जिसे उन्होंने इतना-इतना प्रभावित किया था। 1835 के आसपास कोई प्राकृतिक भूकंप जरूर आया था जिसे देखकर अपनी डायरी में उन्होंने लिखा—और तभी वह भारी भूकंप आया, भयानक उथल-पुथल; जिसने मेरे भीतर एक नये सत्य को जन्म दिया कि मैं विश्व की सभी घटनाओं को नयी व्याख्या और अर्थ दे सकूं। तभी मुझे लगा कि मेरे पिता की लंबी आयु ईश्वर-प्रदत्त वरदान नहीं, बल्कि

1. डब्ल्यू॰ लारी, कीर्केगार्द, ऑक्सफर्ड ऐंड प्रिंसटन प्रेस, 1936

अभिशाप थी; कि मेरे परिवार की महान् बौद्धिक उपलब्धि केवल इस बात में थी कि हम एक-दूसरे को कोस सकें। मैंने तभी अपने चारों ओर मौत की सर्द चुप्पी का अनुभव किया जब मैंने पिता की दुखी आत्मा को देखा जो उनकी सभी निष्फल आशाओं की कब्र पर क्रॉस की तरह स्थित थी।"

सोरेन के जीवन का सबसे प्रकाशपूर्ण और सबसे अधिक अंधेरा-भरा पक्ष शायद रेगिना से उनका प्रेम-संबंध था। उनके जैसा बुद्धिस्वामी चिंतनशील व्यंग्यभरा व्यक्ति इस प्रेम के कारण कैसा विह्वल हो सकता है, यह उनकी 1839 की दूसरी फरवरी की डायरी से स्पष्ट है। इस अंश का शाब्दिक अनुवाद कुछ इस प्रकार का हो सकता है :

'आह रेगिना ! मेरे हृदय की रानी (ग्रीक भाषा में रेगिना शब्द का अर्थ रानी होता भी है), मेरे अंतर्तम के अंतराल में आविर्भूत, मेरे विचारों में पूर्ण शक्ति के साथ उदित, स्वर्ग और नरक की समान दूरी पर स्थित ओ अदृश्य दिव्यता, क्या मैं सचमुच मान लूं, जैसा कि कवि गाते हैं कि जब प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्रथम बार देखता है तो उसे लगता है कि इसे पहले भी देखा है, कि प्रेम या ज्ञान और कुछ नहीं केवल स्मृति का ही नाम है, कि इस प्रेम के, व्यक्ति के अंदर जाग्रत प्रेम के भी, अपने भविष्य-कथन हैं, अपने प्रकार और भेद हैं, निजंधरी कथाएं हैं और इसका भी एक 'ओल्ड टेस्टामेंट' है। हर जगह, हर युवती के चेहरे पर मैं ऐसी रेखाएं देखने लगा हूं जो तुम्हारे मुख की याद दिला देती हैं। लेकिन तभी लगता कि मुझे संसार की सभी युवतियों के सौंदर्य से वे विशेषताएं लेकर तुम्हारे रूप को साकार करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। मुझे सारे संसार की यात्रा करनी पड़ेगी, उस महाद्वीप को पाने के लिए, जो मुझे नहीं दिखा, किंतु जिसे मेरे अस्तित्व का सारा रहस्य अपने विरोधाभासों में निरंतर संकेतित करता रहता है—और तभी उसी क्षण तुम कितना निकट लगने लगती हो, सर्वतः विद्यमान, पूरी शक्ति से मेरी आत्मा में प्रविष्ट, कि मैं अपने को ही बदला-बदला लगूं, और सोचूं कि यहां होना कितना-कितना सुखद है !

"आह, प्रेम के अंधे देवता, तुम जो हमेशा लोगों के छिपे अंतर्तम को देखते रहते हो, मुझे क्या प्रेम का रहस्य बता सकोगे ?"

प्रेम का अंधा देवता उन्हें दुनियावी प्रेम का सही अर्थ न समझा सका और उन्होंने खुद रेगिना से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। प्रेम के विह्वल क्षणों में, अपनी प्रणय-साधना की सफलता के मझदार में सभी प्रकार के अहं का विसर्जन किये हुए प्रेमी ने प्रेमिका से पूछा, "मुझमें क्या था ऐसा जो तुमने मेरे जीवन को स्वीकार किया ?" गर्विता प्रेमिका निःसंकोच बोली, "सिर्फ दया के कारण, मुझे तुम्हारे ऊपर बहुत दया आती है !"

दुख और दर्द को अपनी चेतना समझनेवाला चिंतक एक क्षण के लिए मौन

रह गया। काश, दुख और दर्द को झेलने की उसकी चेतना बलवती न हुई होती! काश, वह एक क्षण के लिए अपनी प्रिया की अवांछित दया को सह जाता! किंतु ऐसा कुछ न हुआ! उसने तुरंत अपने को शक्तिशाली दुखजन्य चेतना के हाथ में सौंपते हुए कहा, "तब तोड़ दो इसे। इसे तोड़ना बड़ा कठिन होता, पर तुम्हारे गर्व ने इसे आज कितना आसान बना दिया!"

इन जलते हुए अंगारक शब्दों के ठीक नीचे उसने अपनी डायरी में, कोष्ठकों में लिखा, "कितना सही कहा था मैंने, उसके लिए ईमानदारी से भरा हुआ, पर अपने लिए धोखे से परिपूर्ण। यह सही है कि इस अप्रतिम उदासी को पुनः जगाने के लिए मैं ही उत्तरदायी हूं। यद्यपि उसके गर्व ने इस उत्तरदायित्व को थोड़ा हल्का कर दिया था तथापि मैंने सोचा कि चलो यह होना ही था। शायद ईश्वर का यही विधान था। शायद यह सब मेरे आचरण को शिथिल होने से बचाने के लिए किया गया।"

इन सारी घटनाओं पर वह बार-बार सोचता रहा। क्या उसका उत्तेजक रूप था जिसने उसे इतना आकृष्ट किया! वह शृंगार-पसंद थी, यह सही है, पर कुछ और भी था जो उसे खींचता रहा और उसने उसे पाने के लिए सब-कुछ किया। वह सोचता—यदि मैं आत्मघाती उदासी में आनंद लेनेवाला प्राणी न होता, तो शायद यह संबंध न टूटता और मैं प्रसन्न रह पाता। लेकिन मैं करूं भी क्या, मैं लाचार हूं! मैं एक ऐसा व्यक्ति हूं जो अप्रसन्नता में ही प्रसन्न रह सकता हूं!

इस घटना के बाद रेगिना ने कई प्रकार से सोरेन को सूचित कराया कि वे अपना मत बदल दें। पर सोरेन अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। एक मित्र के बहुत आग्रह पर और यह जानकर कि रेगिना बहुत दुखी और मायूस है, वे उसे समझाने पहुंचे। रेगिना ने जब अपने क्रूर व्यवहारों के लिए बार-बार क्षमा मांगी तो सोरेन ने, इस आशंका से कि कहीं यह संबंध मेरी ओर से टूटा है यह सोचकर रेगिना के अहं को ठेस लगती हो, कहा, "तुम यह क्यों नहीं कहती कि यह संबंध तुमने तोड़ लिया है?" सोरेन सोचते थे, शायद ऐसा होने से रेगिना बलिदान और शहादत के दुख से बची रहेगी।

ऊपर से तटस्थ और निर्लिप्त जैसे लगनेवाले सोरेन के मन में इस घटना के बाद भी रेगिना के प्रति प्रेम की भावना में कोई कमी न हुई। उल्टे उसके अभाव में यह प्रेम वेदना की मार्मिक गहराई को छूने लगा।

"तुम कहते हो वह सुन्दर थी। आह, तुम क्या जानो उसे! मैं जानता हूं, मैं! क्योंकि उसके सौंदर्य ने मुझे रुलाया है। मैं उसे सजाने के लिए फूल खरीदता था। मैं दुनिया की तमाम नेमतों को उसके ऊपर न्योछावर कर देता। हां, उतनी ही मात्रा में कि कहीं उनसे उसका सौन्दर्य दबने न पाये। अब वह अपने सर्वोत्तम

रूप में मेरे सामने खड़ी हुई, जीवंत प्रेम से भरी आंखें मेरी आंखों से टकरायी; तभी मुझे उसे छोड़कर चला जाना पड़ा—और तब सचमुच, मैं बहुत-बहुत रोया। उसे मेरा नाक-नक्श पसंद न था, मेरी खूबसूरत आंखें पसंद न थी, मेरी सचेत बुद्धि पसंद न थी, वह सिर्फ मुझे—मुझको प्यार करती थी, फिर भी वह मुझे समझ न सकी !"

'कोरसेयर' के साथ सोरेन के विवाद का कारण भी उनके अपने व्यक्तित्व में ही निहित था। मीर गोल्डस्मित सोरेन के प्रशंसक थे और उन्होंने कोरसेयर में सोरेन के विषय में यहां तक लिखा कि जब डेनमार्क के तमाम लेखक लोगों की स्मृति से लुप्त हो जायेंगे, तब भी सोरेन हमेशा-हमेशा अमर रहेंगे। सोरेन कोरसेयर को 'पीली पत्रकारिता' का बेहतरीन नमूना मानते थे और इसीलिए उन्हें यह कतई पसंद न था कि उनकी प्रशंसा ऐसे पत्र में छपे। वे मीर गोल्डस्मित की अहेतुक कृपा और प्रशंसा को घातक मानते थे, इसीलिए उन्होंने गोल्डस्मित से आग्रह किया कि उनके-जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को ऐसे बदनाम पत्र से अलग हो जाना चाहिए। 1846 में पी० एल० मोलर ने, जो कोरसेयर-कार्यालय में ही काम करते थे, वार्षिकी 'गेया' में सोरेन के साहित्य पर एक निंदात्मक निबंध लिखा। सोरेन ने छद्मनाम से इस निबंध का उत्तर 'फादरलैंड' नामक पत्रिका में दिया और चुनौती दी कि उन पर या उनके साहित्य पर जो कुछ भी भला-बुरा कहना हो, वह 'कोरसेयर' में कहा जाये। सोरेन को आशा थी कि गोल्डस्मित में अभी भी सद्विवेक की नितांत कमी न हुई होगी और वे कोरसेयर को, जिसमें वे उनकी अमर कीर्ति का 'सर्टिफिकेट' खुद छाप चुके हैं, विवाद का अड्डा न बनायेंगे। मगर बात उल्टी हुई और गोल्डस्मित ने अपनी गंदी टिप्पणियों, कार्टूनों और व्यक्तित्वघातक लेखों द्वारा सोरेन पर आक्रमणों की झड़ी लगा दी। सोरेन का कोपेनहेगन की गलियों में निकलना तक मुश्किल हो गया। वे एक अजीब अकारण यातना और मानसिक पीड़ा के भंवर-जाल में डाल दिये गये।

1845 में कोरसेयर में अपनी प्रशंसा और अमरता की भविष्यवाणी पढ़कर सोरेन ने एक व्यंग्य-भरा पत्र लिखा, पर उसने छपने के लिए नहीं भेजा; उसे अपनी डायरी में जरूर टांक लिया। लिखा, "ओ, शक्तिशाली सुल्तान, तुम, जिसने हमेशा मनुष्यों की जिंदगी के साथ खिलवाड़ किया है, थोड़ी कृपा करो, मेरी यंत्रणा को संक्षेप करो, मेरी हत्या कर दो, पर मुझे अमर मत बनाओ! आह, तुम्हारी करुणा कितनी क्रूर और अमरता का दान कितना खतरनाक है! मुझे लोग अब वह मानवीय वैभव मानने लगेंगे, जिसे कोरसेयर ने मुक्त कर दिया है। मुझे भी उन लोगों की तरह (कोरसेयर हमेशा ही ऊंचे और आदर्श

व्यक्तित्वों का शत्रु रहा) ही मार डालो, पर मुझे इस तरह अमर बनाकर तो मत मारो।''

सोरेन की तरह कितने लोग हैं आज, जो इसलिए आत्मघाती पीड़ा का अनुभव करें कि उनकी प्रशंसा गलत जगह से हो रही है? कितने हैं ऐसे जो अपने महत् आदर्शों के लिए अपनी व्यक्तिगत प्रशंसा को भी अपमान और मृत्यु मान लें? पर कोरसेयर के इन आघातों से सोरेन की मृत्यु न हुई। उन्होंने 1847 की डायरी में लिखा, **''ईश्वर की कृपा ही है कि मुझ पर आक्रमणों और गालियों की यह वर्षा हुई। अब सचमुच मुझे अपने अंतर्जीवन को समझने का अवसर मिला है। मुझे अब विश्वास हो गया है कि मेरा दर्द और उसकी भावना एक ऐसे सुदूर व्यक्तित्व को ढूंढ़ा करती है जहां अलग-थलग और अज्ञात रहकर मैं तपस्या और प्रायश्चित्त कर सकूं। मैं आज पहले से कहीं अधिक दृढ़, सुनिश्चित और कृतसंकल्प हूं।''**

सोरेन के जीवन का आखिरी भूकंप उनकी आंतरिक और सर्वाधिक प्रिय मान्यताओं की देन था। सोरेन की आत्मा में ईसाइयत के सही रूपों के प्रति एक अटूट आस्था थी। सच्ची ईसाइयत की यह भावना समाज की विरूपताओं और प्रवंचनाओं से निरंतर टकराती रही। सोरेन का सबसे बड़ा गुण या सबसे बड़ी कमजोरी यही थी कि वे सत्य और ईमानदारी को काले लिबास में लिपटते हुए कभी देख नहीं पाते थे। और जब उनकी आत्मा ऐसे कुकृत्यों पर तिलमिलाकर विरोध के लिए उद्यत हो जाती तो वे समय, स्थान और व्यक्ति की परवाह नहीं करते थे। उनकी आवाज से क्या होगा, इससे कैसा भूकंप आ सकता है, और इसकी लपेट में उन्हें या समाज को क्या-कुछ कष्ट सहने पड़ेंगे, यह सब सोचने की जैसे उन्हें फुर्सत ही नहीं मिलती थी!

पादरी माइंस्टर की मृत्यु पर उन्होंने लिखा, ''कितना शीघ्र बुलावा आ गया उनका, वरना लगता था कि मुझे उनका विरोध करना ही पड़ेगा। उनका सिर्फ एक प्रवचन मैं सुन न पाया, वही आखिरी! ऐसा नहीं कि मैं उस दिन बीमार था। उस रविवार मैं चर्च भी गया, पर कोल्दोर्फ का प्रवचन सुनने। कोल्दोर्फ को सुनना ही जैसे यह संकेत था कि अब समय आ गया है कि मुझे अपने पिता के समय से चली आती हुई परंपरा से अलग होना होगा और उसी शाम माइंस्टर का अंतिम प्रवचन हुआ—अंतिम! मुझे लगता है कि यह सब नियति का भी निश्चय था।''

ऐसी निर्मम किंतु सच्ची आंतरिक श्रद्धांजलि ने सारे ईसाई जगत में भूकंप ला दिया। सोरेन ने लिखा, ''कितने डरे-डरे लगते हैं ये लोग मुझसे! कितना

अनुचित और अनुपयुक्त विचार लग रहा होगा उन्हें ! पर जो भाव निरंतर मेरे मन में छाया है, वह यह कि क्या यह ईश्वर की ही इच्छा नहीं है कि अपना सब-कुछ दांव पर लगाकर इस भूकंप को पैदा करूं, जिसके कारण हो सकता है मैं गिरफ्तार कर लिया जाऊं ! सजा मिले, कदाचित् फांसी भी ! अगर इसमें मैं असफल भी हुआ, तो मुझे मृत्यु तक भी पछताना न होगा। इसके विरोध में मैं शायद यह सोच सकता हूं, और इस सोचने में भी ईश्वर के प्रति मेरी आस्था का ही बल है, कि वह मुझे 'कुछ करने की असफलता' से बचायेगा ताकि मैं 'कुछ न करने' की शाश्वत पीड़ा से बचा रहूं।"

अपनी मृत्यु के करीब चार महीने पहले, 2 जुलाई, 1855 की डायरी में, बड़ी पीड़ा के साथ सोरेन ने एक सच्चे ईसाई के बारे में अपनी राय यों व्यक्त की, "ईसाई होने की सभी पीड़ाओं में सबसे अधिक भयंकर पीड़ा यह जानना है कि हमारे जीवन में नरक क्या और कहां है ! मनुष्य हमेशा मृत्यु से भयभीत है; पर सच्चा ईसाई वह है जो निरंतर मृत्यु में ही जीता है। तुम्हें जीने के पहले मरना होगा, अपने से घृणा करनी होगी और फिर जीना होगा, जीवित रहना होगा, शायद अगले चालीस वर्षों तक ?"

सोरेन कीर्केगार्द ऐसी ही जीवन्मुक्त, पीड़ा के सहयात्री थे। उनका जीवन संघर्षों की अटूट कहानी है। वे आंधियों के सामने हमेशा अटल, अडिग रहे, जूझते हुए, लड़ते हुए, पर धूल के मामूली झोंके उन्हें हमेशा रुलाते रहे। शायद अपने जीवन की इसी स्थिति को लक्ष्य करके उन्होंने 1837 में लिखा, "मैं खुशी से तूफान का मुकाबला कर सकता हूं, उस समय मेरी नसें खून से फटती होती हैं; किंतु हवा का अदना झोंका जब मेरी आंखों में धूल झोंक जाता है, तो मैं क्या करूं ! पैर पटकने के अलावा तब चारा भी क्या बचता है !"[1] सोरेन उस प्रतिभा का नाम है, जो भूकंप में पली, पनपी और भूकंप में ही विलीन हो गयी !

अस्तित्ववादी दार्शनिकों के दिमाग में किसी-न-किसी रूप में हीगेल का भूत छाया रहा। हीगेल का विराट् दार्शनिक व्यक्तित्व, इतिहास के लंबे दौर के बीच दर्शनशास्त्र की टूटी हुई शृंखला को तर्कपूर्ण ढंग से पुनर्निर्मित करने और उसे क्रमबद्ध-पद्धति (सिस्टम) देने की उनकी कोशिश और योरप के अधिकांश आधुनिक दार्शनिकों के अध्यापक होने की गरिमा, खुद में एक बहुत बड़ी चुनौती थी, जिसके आमने-सामने खड़े हुए बिना कोई भी नयी चिंतन-धारा न तो उत्पन्न हो सकती थी, न तो विकसित ही हो सकती थी। कीर्केगार्द ने इसीलिए हीगेल की दार्शनिक पद्धति पर ही प्रश्नवाचक चिह्न को लगाते हुए लिखा—

1. उपर्युक्त सभी उद्धरण सोरेन कीर्केगार्द की 'डायरी' से लिये गये हैं, जिसका संपादन वाल्टर लारी ने किया है। प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।

"संदेह करनेवाले युवक को, जो सचमुच अस्तित्व रखनेवाला है, जो विचारों के महान् व्यक्ति में असीम आस्था और विश्वास रखता है, हीगेल के प्रत्यक्षवादी दर्शन में अपने अस्तित्व के लिए सत्य ढूंढ़ने की कोशिश करे। उसे बिना शर्त स्त्रीसुलभ भक्ति के साथ हीगेल के सामने समर्पण करके उन्हें जानना चाहिए; पर उसे हमेशा याद रखना चाहिए कि यदि अपने अस्तित्व की समस्याओं का उत्तर पाना है, तो मुझे विश्वास है कि वह अनजाने ही हीगेल का व्यंग्य-लेखक बन जायेगा। युवा स्वयं में एक अस्तित्व-प्राप्त संदेही जीव होता है, वह संदेह में झूलता रहता है और अपनी जिंदगी के लिए पैर टिकाने को कोई जगह नहीं पाता। वह नकारात्मक स्थिति में होता है जबकि हीगेल का दर्शन प्रत्यक्षवादी है। ऐसी स्थिति में यह कोई आश्चर्य नहीं है कि उसे हीगेल में अनुकूलन का नहीं, प्रतिकूलन का बोध होता है। शुद्ध विचारोंवाला यह हवाई दर्शन जीनेवाले युवक के लिए आकाश-गमन की तरह लगता है। शुद्धतम हवाई विचारों के अंदर जीना उसी तरह का काम है जैसा योरप का छोटा-सा नक्शा लेकर डेनमार्क की यात्रा करना, जिसे कलम की नोक से बने बिंदु की तरह दिखाया गया हो, यही नहीं, बल्कि ज्यादा मुश्किल कहें। युवा वर्ग का हीगेल के प्रति प्रशंसा, उत्साह और असीम विश्वास हीगेल का सबसे बड़ा मजाक है।"[1]

हीगेल के इस कल्पनाधृत दर्शन से उत्पन्न निराशा ने ही कीर्केगार्द को ईसाई विश्वासों की ओर लौटने के लिए मजबूर किया। किंतु क्या तत्कालीन पुरोहितों और मठाधीशों की स्वार्थ-लिप्सा ने विकृत ईसाइयत और कर्मकांडीय तामझाम उसे संतोष दे सकते थे? कीर्केगार्द एक विचित्र प्रकार का इंसान था और वह आंतरिक रूप से इतना अस्थिर, संतोषरहित और अधीर हृदय का व्यक्ति था कि वह ईसाइयत में स्वाभाविक गति से संभावित सुधारों की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था, इसलिए उसने मठाधीशवाद पर हमला बोल दिया।

कीर्केगार्द की दार्शनिक मान्यताओं को संक्षेप में समझने के पहले यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्यों हम उसे अस्तित्ववाद का पुरस्कर्ता मान लें? वस्तुतः शुद्ध अस्तित्ववादी चिंतन की दृष्टि से उसे इस धारा में अंतर्भुक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी यह निर्विवाद है कि वह इस धारा का आरंभ-बिंदु है और अपने समय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चिंतक है। उसने पहली बार 'अस्तित्व' शब्द पर जोर दिया, हालांकि उसके चिंतन को हम ईसाई अस्तित्ववाद या अस्तित्ववादी धार्मिक चिंतन कह सकते हैं।

हीगेल के अभौतिक (ऐब्स्ट्रैक्ट) विचारों की उसने तीखी आलोचना इसीलिए की, क्योंकि ऐसे दर्शन में चिंतक कहीं से भी प्रतिबद्ध नजर नहीं आता। सार्त्र के

1. कन्क्लूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्ट स्क्रिप्ट, पृ० 275

शब्दों में कहें तो चिंतन में दार्शनिक स्वयं भोक्ता बनकर चीजों का विश्लेषण करते हुए नहीं दिखाई पड़ता।

कीर्केगार्द कहीं से भी अपनी आंतरिकता में किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकता था। इसीलिए वह सार्वभौम के प्रतिपक्ष में हमेशा विशिष्ट या व्यष्टि का हिमायती था। 1846 में उसने एक उपन्यास की समीक्षा की जो बाद में 'द प्रेजेंट एज' के नाम से छपा। इसमें वह सार्वजनिक स्थापनाओं, जनता और समाज की धारणाओं, आदि की खुलकर निंदा करता है। उसके लिए समूह-व्यक्ति या सामूहिकता एक विराट् दानव प्रतीत होता है। वह कहता है—"किसी जगह को हमवार करना किसी व्यक्ति का काम नहीं है बल्कि एक अदृश्य विराट् शक्ति की इच्छाशक्ति का कार्य है। हमवार करनेवाला व्यक्ति इस प्रक्रिया के मुख में चला जाता है, यद्यपि उससे व्यक्तिगत रूप में पूछा जा सकता है कि वह क्या कर रहा है; किंतु ऐसा करनेवाला समूह शायद ही बता पाये कि वह क्या कर रहा है—।"[1] समूह समाज के हर व्यक्ति को, बिना सोचे-समझे, इसी प्रकार हमवार बना देने के लिए सन्नद्ध है। कीर्केगार्द इस समूहवाद के सख्त खिलाफ था, क्योंकि इस प्रक्रिया में मनुष्य की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है और एक भीड़-धर्मा खोखला मूल्य प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।

उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द सिंगल वन में ईसाइयत को किसी भी 'एक ईसाई' के लिए निहायत अस्वीकार्य वस्तु करार दिया है। प्रसिद्ध अस्तित्ववादी मार्टिन बूबर ने लिखा है—"वह अपनी अद्भुत ऐकांतिकता के कारण ऐसा लिख सका, उसका 'एकाकी व्यक्ति' तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक हम उसके जीवन में व्याप्त इस एकाकीपन को ठीक से विश्लेषित न करें। वहां आगस्टाइन या पास्कल की तरह का एकांत नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आगस्टाइन के साथ उनकी मां थी, पास्कल के साथ उनकी बहन, जो विश्व के साथ उनका घनिष्ठ सूत्र जोड़े रहीं, जो एक औरत ही कर पाती है, जबकि कीर्केगार्द के जीवन के और उसके विचारों के पारदर्शी होने की प्रक्रिया के मूल में रेगिना का बहिष्कार था, रेगिना का अतः विश्व का भी।"[2]

कीर्केगार्द ने अपनी तल्ख जिंदगी की अनुभूतियों के बीच से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले :

1. सच्चा ज्ञान वही है जो अस्तित्व के बारे में हो, अथवा अनिवार्यतः अस्तित्व से संबद्ध हो।
2. वह ज्ञान जो अस्तित्व से असंबद्ध है, जो अस्तित्व की आंतरिकता को नहीं

1. द प्रेजेंट एज, आक्सफर्ड, 1940, पृ० 30
2. द राइटिंग्स ऑफ मार्टिन बूबर, विल हरबर्ग, मेरिडियन बुक्स, 1956, पृ० 63

छूता, वह ऊपरी और अमहत्त्वपूर्ण ज्ञान है।

3. वस्तुपरक ज्ञान को व्यक्तिपरक ज्ञान से भिन्न करना होगा। वस्तुपरक दृष्टि हमें सोचनेवाले व्यक्ति से अलग ले जाकर सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया में खो देती है—ये ज्ञान हैं गणित, दर्शन या इतिहासादि। ऐसी स्थिति में व्यक्तिसत्ता के प्रति उदासीनता चल सकती है।
4. वस्तुपरक दृष्टि से वस्तुगत सत्य उपलब्ध किया जाता है, इसी कारण वहां वैयक्तिकता का कोई महत्त्व नहीं होता। यहीं वस्तुपरक मूल्य की सृष्टि होती है जिसका महत्त्व मात्र अनुमानाश्रित होता है।
5. व्यक्तिपरक ज्ञान के लिए वैयक्तिक औचित्य जरूरी है, व्यक्तिपरक दृष्टि से उपलब्ध सत्य इसी कारण आंतरिकता के औचित्य से प्रमाणित होता है, इसके लिए व्यक्ति को अपनी आंतरिकता में डूबकर सत्य खोजना चाहिए।
6. इसलिए, केवल नैतिक और धार्मिक ज्ञान ही आवश्यक ज्ञान है; क्योंकि सिर्फ ये ही जाननेवाले व्यक्ति की सत्ता को सापेक्ष मानते हैं, सिर्फ ये ही आंतरिक जगत् से संबद्ध हैं, इसीलिए सिर्फ इन्हीं में सत्य और अस्तित्व घुल-मिलकर प्रकट होते हैं।
7. आवश्यक सत्य हमेशा ही आंतरिक और वैयक्तिक होता है, मतलब कि हमारी आंतरिकता ही सत्य है।[1]

कांट के दर्शन की मूल भित्ति है—"मैं क्या जान सकता हूं?" कीर्केगार्द का उत्तर है कि सत्य वही जानता है जो अपनी आंतरिकता को पहचानता है।

कीर्केगार्द ने चर्च और मठाधीशवाद पर आक्रमण किया, उनकी खिल्ली उड़ायी, ईसाई कर्मकांडीय लबादे को ओढ़ने के लिए वह कभी तैयार नहीं हुआ; पर वह अंततम में एक सच्चा ईसाई था, इसमें संदेह नहीं। इसी कारण उसने ईसाई नैतिकता शास्त्र को वरीयता दी। पुस्तकीय ज्ञान के विरोध के पीछे उसकी यह ईमानदारी कार्य कर रही थी कि यूनानी दार्शनिकों की तरह पुनः मानव के बारे में सोचने-विचारने की प्रक्रिया को वैयक्तिक और अनुभूतिपरक बनाया जाय। इसीलिए उसने कहा कि ज्ञान के क्षेत्र में 'क्या' का उतना महत्त्व नहीं है जितना 'कैसे' का। यह 'कैसे' ही व्यक्तिपरक आंतरिकता को वरीयता देने के लिए उसे मजबूर करता है। इस आंतरिकता के ऊपर बल देने का ही परिणाम था कि उसने अध्यात्म को सच्चा ज्ञान माना। प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर व्यक्तिगत ज्ञान कैसे हो सकता है, वह तो व्यक्ति से अलग जानने की चीज है? कीर्केगार्द कहता है कि "ईश्वर व्यक्तिपरक है, इसीलिए वह केवल व्यक्ति की आंतरिकता में ही उपलब्ध

1. एक्जिस्टैंशियलिज्म ऐंड मॉडर्न प्रेडिकामेंट, पृ० 39-40

हो सकता है।"[1]

कीर्केगार्द के बारे में आरोप हो सकता है कि उसने अपने समाज की उपेक्षा की और तत्कालीन सामाजिक संगठन और उसके विकास के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को नजरअंदाज किया। मार्टिन बूबर ने सोरेन कीर्केगार्द के विचारों में इसी अभाव को लक्ष्य करते हुए लिखा, "कीर्केगार्द के लिए दूसरों के साथ वार्तालाप भी गवारा न था, वह चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने और ईश्वर के बीच किसी और को न आने दे···।" मार्टिन ने लिखा कि ईश्वर के साथ एकालाप की यह हिमायत प्लेटो से लेकर नीत्शे तक होती रही किंतु अपने और ईश्वर के बीच एकालाप वैसी चीज नहीं है जैसी स्वयं से स्वयं के बीच एकालाप।" इसलिए मार्टिन ने 'अहम्-त्वम्' की नयी धारणा उपस्थित की। उन्होंने कीर्केगार्द के 'अहमेव केवलम्' और स्टिरनर के 'विशिष्ट केवलम्' को बहुत अधूरा माना। इस दृष्टि से मार्टिन बूबर, जो स्वयं उच्च कोटि के धार्मिक अस्तित्ववादी हैं, 'द क्वेश्चन टु द सिंगल वन' में कीर्केगार्द की बहुत सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा उपस्थित करते हैं।[2] उनका कहना वाजिब है कि यदि मनुष्य को विनाश से रोकना है तो उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित सत्य से संबद्ध होना ही होगा। मनुष्य को उस सत्य में भी आस्था रखनी होगी, जो उससे अलग है, जिसे वह अपने लिए उपलब्ध नहीं कर सकता—किंतु जिसके साथ उसे यथार्थ जिंदगी में संबद्ध होना ही पड़ता है।"[3]

कीर्केगार्द के दर्शन की कमियों के बारे में कई कोणों से विचार किया जा सकता है, होना भी चाहिए, पर एक वस्तु से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसने अपने उदासी-भरे तीखे व्यक्तित्व के माध्यम से 'आदमी की आंतरिकता' का जो अद्भुत दस्तावेज उपस्थित किया, वह आज तक आधुनिक मनुष्य के जीवन के विविध क्षेत्रों में 'व्यक्ति की गरिमा' को कायम करनेवाली एक दूरगामी प्रभाव से भरी अद्भुत देन है।

1. सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, एच० जे० ब्लाखम, पृ० 20
2. द राइटिंग्स ऑफ मार्टिन बूबर, पृ० 63-88
3. वही, पृ० 88

खतरनाक जिंदगी का मसीहा : नीत्शे

'मरने दो हे ! ईश्वर को मरने दो ! वह पुन: जी उठेगा नव-नव रूपों में !" यह पंक्ति है हमारे श्रेष्ठ कवि पं० सुमित्रानंदन पंत की। आधुनिक युग-मानस का विश्लेषण करते हुए सभी ने विज्ञान की प्रगति के संदर्भ में कहा है कि "मध्यकालीन मानस पर ईश्वर का जो प्रभाव रहा है वह आधुनिक युग में लगभग समाप्तप्राय है। डार्विन के विकासवाद, मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, विज्ञान के बुद्धिवाद ने ईश्वर का दबदबा समाप्त कर दिया।"

चिंतन के क्षेत्र में सबसे सशक्त शैली में नीत्शे ने ईश्वर की मृत्यु घोषित की। लेकिन उसकी प्रतिक्रिया क्या हुई ? नीत्शे और उसके चिंतन की परिणति क्या हुई ? क्या ईश्वर पुन: नव-नव रूपों में जीवित हो उठा ?

नीत्शे उन चिंतकों में है जो आधुनिक युग-चिंतन की कितनी ही धाराओं का उद्गम-स्रोत माना जा सकता है। कितनी ही साहित्यिक विचार-धाराएं, कितनी दार्शनिक चिंतन-पद्धतियां, यहां तक कि कई राजनीतिक दलों की आर्थिक योजनाएं तक नीत्शे पर आधारित रही हैं।

एक पागल सुनहरी धूपवाली एक सुबह में लालटेन जलाकर बाजार पहुंचा और चौराहे पर खड़ा होकर लगातार चिल्लाता रहा, "मैं ईश्वर को देख रहा हूं—देख रहा हूं उसे···"

"क्या तुम्हारा ईश्वर अबोध बच्चे की तरह कहीं खो गया है?" भीड़ में से एक अविश्वासी ने हंसते हुए पूछा, "या कहीं छिप गया है, या डर रहा है? किसी यात्रा पर तो नहीं निकल गया ?"

पागल उन्हें घूरता हुआ चिल्लाकर बोला, "कहां है ईश्वर, बताऊं मैं तुम्हें ?" वह उनकी आंखों में एकटक देखते हुए फुसफुसाया, "हमने उसे मार डाला—मैंने और तुमने। मगर हमने यह किया कैसे ? हमने इतना बड़ा समुद्र कैसे पी लिया ? किस चीज से सारा अंतरिक्ष पोंछ डाला ? हमने पृथ्वी को सूरज की जंजीर से छुड़ाकर यह क्या किया ? क्या हम लगातार सूरज से दूर, बहुत दूर नहीं होते जा रहे हैं ? हमारे चारों तरफ अंधेरी रातें, सिर्फ गाढ़ी अंधेरी रातें क्या घिरती नहीं आ रही हैं ? अब तुम्हीं कहो कि सुबह भी हमें लालटेनें जलाने की जरूरत है या नहीं, हम क्या निरंतर मृत ईश्वर के लिए तैयार की जा रही कब्रों के खोदे जाने की आवाजें नहीं सुनायी पड़ रही हैं ? क्या उसके सड़ते हुए शरीर की बदबू हमारे पास नहीं आ रही है ? ईश्वर मर चुका ! हमने उसकी हत्या कर दी ! अब तक संसार में जो सबसे अधिक दिव्य था, शक्तिमान् था, उसे हमने छुरे भोंककर मार डाला ! अब हमारे हाथों का यह खून कौन धो सकेगा ? कहां है वह जल जो हमें साफ कर सके ? कहां है ?

"हमने एक महत् कार्य किया, पर क्या इसकी महत्ता हमें बहुत भारी तो नहीं लग रही है ? क्या अपने को इस महत् कार्य के योग्य सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अब हम सभी सहज रूप से ईश्वर बन जायें ? सचमुच इस महत् कार्य से बड़ा कोई कार्य हो ही नहीं सकता। इसके कारण ही हमारे बाद पैदा होनेवाला हर आदमी अब एक महत्तर इतिहास का अंग बन जायेगा।"

इतना कहकर वह पागल चुप हो गया। उसने सामने खड़े मौन श्रोताओं को अपनी ओर ताकते देखा। उसने हाथ की लालटेन जमीन पर पटक दी और बड़-बड़ाया, 'मैं शायद वक्त के पहले आ गया। यह महान् घटना शायद अभीष्ट पर पहुंची नहीं। लोगों ने अभी उसके बारे में कुछ सुना ही नहीं। बिजली की चमक और गड़गड़ाहट को भी समय चाहिए, तारों की रोशनी को भी, महान् कार्यों को भी, चाहे वे भले ही हो चुके हों, समय चाहिए ताकि उन्हें लोग देख और समझ सकें। यह तो जैसे इनके लिए अभी नक्षत्रों से भी अधिक दूर है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि इन्होंने ही इस महान् काम को पूरा किया, और ये ही उससे अन-जान बने बैठे हैं।...'[1]

उसी दिन वह पागल एक चर्च में भी गया, जहां प्रार्थना की जगह शोकगीत गाता रहा। पुजारियों ने धक्के देकर बाहर निकाल दिया और इस असभ्य आचरण का कारण पूछा, तो वह बड़े भोलेपन के साथ बोला, "क्या ईश्वर के मर जाने के बाद ये चर्च उसकी कब्रें नहीं हो गये ?"

यह पागल और कोई नहीं, प्रसिद्ध विचारक फ्रेडरिक नीत्शे ही था, जिसने

1. गे सायंस, काफमैन, पृ० 106

यह अनुभव तो किया कि अब तक की सारी सांसारिक गतिविधि के केंद्र में प्रतिष्ठापित ईश्वर मर चुका है, किंतु उसका समाज इस कड़वे सत्य को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं था। उसे लाचार होकर ज्योति की वह लालटेन फेंक देनी पड़ी। उसके शीशे चूर-चूर हो गये। नीत्शे भीतर और बाहर से पूर्णतः विदीर्ण हो गया। और अचंभा यह कि इस टूटी हुई लालटेन को जिन लोगों ने उठाया, वे सत्य के खोजी नहीं थे। विस्तार और महत्त्वाकांक्षा से अंध नाजियों ने नीत्शे की लालटेन के प्रकाश में सारे यूरोप को लहू से लाल कर देने का मंसूबा बांधा।

फ्रेडरिक नीत्शे[1] जर्मनी के सेक्सोनी प्रांत के रॉयकेन नामक स्थान में 15 अक्तूबर, 1844 ई० को पैदा हुआ। नीत्शे के अलावा परिवार में दो बच्चे और थे। उससे छह वर्ष छोटी उसकी बहन थेरेसे एलिजबेथ अलेक्जांद्रा, जो बाद में नीत्शे की निकटवर्ती संरक्षिका रही और जिसने उसकी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण जीवनी लिखी, तथा उससे भी छोटा जोजेफ, जो बचपन में ही काल-कवलित हुआ। पिता की मृत्यु के बाद नीत्शे का परिवार नौम्बर्ग आ गया, जहां छह वर्ष की अवस्था में नीत्शे म्युनिस्पल बाल-विद्यालय में भर्ती हुआ। कैथड्रल ग्रैमर स्कूल से प्रवेशिका परीक्षा पास कर वह फोर्टा के सुप्रसिद्ध 'लैंड-स्कूल' में प्रविष्ट हुआ, जिसने नोवा-लिश, फिश्ते और श्लेगल-जैसे विद्वान् पैदा किये थे। 1864 में वह बोन विश्वविद्यालय में स्नातक उपाधि के लिए दाखिल हुआ, जहां उसके जीवन में वह धार्मिक परिवर्तन आया जिससे सारे यूरोप को एक क्रांतिकारी विद्रोही दार्शनिक का अवदान प्राप्त हुआ। यहीं उसकी दोस्ती प्रसिद्ध भाषाशास्त्री विल्हेल्म रित्शेल से हुई जिसके साथ वह लीप्जिग विश्वविद्यालय गया। लीप्जिग नीत्शे के जीवन का अविस्मरणीय मोड़ है। यहीं वह वैग्नर से मिला। वैग्नर उस समय फ्रांज लिज्त की युवती, पतिविरक्त कन्या कोसिमा वान बुलवो के साथ रहता था और इस उन्मुक्त वातावरण में नीत्शे को मनचाहा विश्राम मिल गया। यहीं वैग्नर को उसने अपना 'राज्य और धर्म' शीर्षक निबंध सुनाया। इसी निबंध में उसने लिखा, "धर्म और राष्ट्र-प्रेम जनता के लिए अफीम की तरह हैं जिनके बिना उसका काम नहीं चलता। केवल शासक या राजा ही इससे परे रह सकता है, क्योंकि उसी के अंदर वह साहस है कि पीड़ा को सहकर वह इस भ्रम को दूर कर सके, जिसे कला ने निरंतर विकसित किया है, कि यह जीवन एक खेल है और वह हमें सार्वजनिक भाग्य से खींचकर अलग कर देता है।" नीत्शे सोचता था कि वैग्नर उसकी ही एक सहजात आत्मा है; और वैग्नर मानता था कि युवक बुद्धिमान्

1 नीत्शे, द स्टोरी ऑफ ए ह्यूमन फिलॉसफर, एच० ए० रेवर्न, लंदन, 1948

नीत्शे के रूप में उसे एक महान् शिष्य मिल गया, किंतु दोनों ही गलत थे।

इसी लीप्जिग में 1865 ई० में नीत्शे का शॉपेनहार के सारस्वत अवदान से संपर्क हुआ। शॉपेनहार ने अपने एक मित्र से कहा था कि, "जीवन पीड़ा की प्रक्रिया है और मैं इसी पर निरंतर गहराई से सोचने के लिए संकल्पित हूं।" नीत्शे इस 'उदास दार्शनिक' की ओर कैसे आकृष्ट हुआ, इसका विवरण उसी के शब्दों में सुनिए :

"युवा लोगों में, यदि उदासी और निराशा की प्रवृत्ति हुई, तो बड़ी आसानी से तुनुकमिजाजी और खीझ का स्वभाव बन जाता है। उस समय मैं तरह-तरह की परेशानियों और व्यथाभरी अनुभूतियों के दौर से गुजर रहा था। तब, न कहीं से सहायता की आशा थी, न खुद में ही कोई मौलिक विश्वास या आस्था थी। अपने कमरे के प्रसन्न एकांत में ही मैं अपने को समेट पाता। एक दिन एक पुरानी किताबों की दूकान में वह पुस्तक (शॉपेनहार की) मिली। मैंने पन्ने उलटे-पुलटे। जाने तभी कोई प्रेत मेरे कानों में फुसफुसाया—'ले जा, इसे, इस किताब को जरूर ले जा!' घर पहुंचकर मैं किताब खोलकर एक सोफे पर पड़ रहा और मैंने उस ताकतवर, उदास, बौद्धिक दार्शनिक को छोड़ दिया कि वह मुझ पर खुल-खेल सके। यहां हर सतर चिल्लाती थी : वैराग्य, अस्वीकृति, परित्याग! यहीं वह दर्पण भी मिला, जिसमें मैंने संसार को, जीवन को और अपनी आत्मा को भयंकर विराटता के रूप में देखा। यहीं पर कला की पूर्ण, असंदिग्ध आंखें मुझे घूरती हुई दिखायी पड़ीं। यहीं मैंने व्यथा और उपचार, बहिष्कार और शरण, स्वर्ग और नर्क सबको देखा। अपने को जानने और घृणा करने की जरूरत की बाध्यता मैंने महसूस की। उस समय मेरी डायरी के पन्ने कितने परेशान और उदास होते गये, निरंतर ऊपर की ओर देखते हुए जैसे मनुष्य के भीतर की मुलायम हीरे को वे फिर से नये रूप में ढालने का संकल्प कर रहे हों—उस समय शारीरिक हठयोग में भी कमी न थी, मैं 14 दिनों तक दो बजे बिस्तर पर जाने और फिर छह बजे उठ जाने की बाध्यता निभाता रहा। उसी समय स्नायविक दुर्बलता और चिड़चिड़ाहट का मुझ पर अधिकार भी हो गया।"[1]

नीत्शे इस समय तक ईसाइयत के प्रति विद्रोही, ईश्वर के प्रति वितृष्ण और वस्तुपरक बायवी दर्शन के प्रति क्रुद्ध हो चुका था। इन्हीं दिनों प्रशिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध छिड़ा। नीत्शे ने देशभक्ति से प्रेरित होकर युद्ध में जाने का पूर्ण निश्चय किया। दो बार वह आंख की खराबी के कारण छांट दिया गया। किंतु अंत में 1867 ई० में सेना-संबंधी एक नये नियम के कारण वह फिर बुलाया गया और उसे एक तोपची दस्ते में भरती कर लिया गया। शिक्षण लेते

1. ब्वायफुल विज्डम, पृष्ठ 1

वक्त वह घोड़े से गिर गया और उसके सीने में सख्त चोट आ गयी। इस तरह नियति फिर आड़े आयी और नीत्शे को लाचार होकर सेना से अलग होना पड़ा। अक्तूबर, 1868 ई० में वह पुनः लीप्जिग लौट आया। बेले विश्वविद्यालय में प्राचीन भाषाशास्त्र के अध्यापक के रूप में उसकी नियुक्ति हुई।

ठीक दो वर्ष बाद फ्रैंको-प्रशियन युद्ध छिड़ा और इस बार नीत्शे एम्बुलेंस में अर्दली के पद पर नियुक्त होकर युद्धक्षेत्र में पहुंचा। सत्य और न्याय के लिए युद्ध में शामिल होने की यह पिपासा नीत्शे के जीवन की कुंजी है। इस युद्ध के दौरान ही उसे विजेता और विजित के दर्शनों का सही अंतर स्पष्ट हो सका और यह अनुभव 'महत् मानव' और 'शाश्वत गतिचक्र' नामक दार्शनिक दृष्टिकोणों की आधार-भूमि बना।

शक्ति की अभीप्सा नीत्शे के जीवन-दर्शन की न्याय-शिला है। उसकी बहन थेरेसे ने फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के काफी बाद इस विचारधारा के स्रोत के बारे में जब उससे जिज्ञासा की, तो नीत्शे ने युद्ध-भूमि के अपने अनुभव और उससे उत्पन्न 'विज़न' या प्रतीति को इस प्रकार स्पष्ट किया था :

"उन दिनों कई हफ्तों तक बीमार और घायलों की लगातार देखभाल करनी पड़ी। खून से सने और अकड़े हुए अंगों की भयंकरता ने धीरे-धीरे उसके मन से भय को सोख लिया और उसकी जगह एक गूंगी थकान भर दी। एक दिन घायलों के साथ दिन-भर लगे रहने के बाद जब वह स्ट्रासबर्ग के पास के एक छोटे-से कस्बे को पैदल और अकेला जा रहा था, उसने घोड़ों के सुमों की आवाजें सुनीं, तो एक दीवार से चिपककर खड़ा हो गया ताकि रेजिमेंट गुजर जाये। पहले घुड़सवार सेना दौड़ती हुई चली गयी, पीछे पैदल दस्ते जा रहे थे। यह नीत्शे की पुरानी रेजिमेंट थी। वह खड़ा-खड़ा देखता रहा, दस्ते पर दस्ते गुजरते रहे, तभी उसे लगा कि ये लोग जंग के मैदान में जा रहे हैं, मरने जा रहे हैं। धारणा दृढ़ हुई कि जीवन के प्रति उच्चतम और प्रबलतम 'अभीप्सा' अपने बचाव के लिए डगमगाते-लड़खड़ाते कमजोर संघर्ष में नहीं है, बल्कि वह युद्ध की अभीप्सा है, विजय की अभीप्सा है, शक्ति पर अधिकार करने की अभीप्सा है।"

घायलों की चिकित्सा का कार्य नीत्शे-जैसे कमजोर स्वास्थ्य वाले व्यक्ति के लिए ऐसे भी काफी भारी था, इसी बीच उसे पेट की कई बीमारियां भी हुईं। छूत के ये रोग उसे घायलों की सेवा के बदले में मिले, जिन्होंने उसे पूरी तरह तोड़कर रख दिया। इस हालत में वह सैनिक अस्पताल से वापस लौटा और पूरी तरह स्वस्थ भी नहीं हो पाया था कि उसने यूनिवर्सिटी में अपना अध्यापन-कार्य फिर आरंभ कर दिया।

सन् 1872 में नीत्शे की महत्त्वपूर्ण कृति 'संगीत की आत्मा से त्रासदी का जन्म'[1] प्रकाशित हुई। उसका स्वास्थ्य निरंतर टूटता आ रहा था। छुट्टियों में वह अक्सर स्विट्जरलैंड और कभी इटली की यात्राएं करता रहा। स्विट्जरलैंड में वह पुराने मित्र वैग्नर से मिला। बैरेयुथ में वैग्नर ने अपनी कृति 'द रिंग' सुनायी। नीत्शे इसे सुनकर बहुत तीखा और परेशान हुआ। उसे लगा कि वैग्नर ने अंत में ईसाइयत से समझौता कर लिया। किन्तु वैग्नर के प्रति उसके मन के ममत्व को टूटने में पूरे दस साल लगे और तभी उसने वैग्नर के विरुद्ध अपना ऐतिहासिक महत्त्व का 'पैम्फलेट' लिखा। टूटते हुए स्वास्थ्य की बाध्यता के कारण उसे बेले विश्वविद्यालय के अध्यापक-पद से अलग होना पड़ा। इसके बाद पूरे आठ वर्षों तक वह निरंतर उस स्थान की खोज में घूमता रहा जो उसकी आत्मा को शांति और शरीर को स्वास्थ्य दे सके। सिलसमारिया (स्विट्जरलैंड), जेनेवा, मोनाको, मेसिना, ग्रुनेवाल्ड, ट्युटेनवर्ग, रोम, नौम्वर्ग, वेनिस आदि स्थानों में उसकी यात्राएं जारी रहीं। किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। इसी यायावरीय, रोगग्रस्त अवस्था में उसने दस स्पेक जरथुष्ट्र, बियांड गुड ऐंड इविल, द जिनियालॉजी ऑफ मारल्स, इसे होमो आदि रचनाएं लिखीं। दुखी, निराश, टूटा हुआ नीत्शे निरंतर अपनी जिंदगी की विषमताओं से जूझता रहा। जनवरी, 1889 ई० में एक दिन मिरगी का दौरा आया, जो उसके जीवन के अंत की सूचना था। वह इससे बहुत घबड़ा गया, करीब-करीब पागल जैसा हो गया। इस हालत में वह कैसे और कहां-कहां रहा, इसकी जानकारी नहीं के बराबर है। बाद में जेना के एक प्राइवेट सेनिटोरियम में उसे रखा गया था। कुछ ठीक हुआ तो नौम्बर्ग लौट आया और उसकी बहन उसे बीमार ले गयी जहां तीन वर्ष बाद 25 अगस्त, 1901 ई० को उसका देहांत हो गया। अपने गांव रॉयकेन में ही वह दफन किया गया।

नीत्शे का जीवन एक ज्वालामुखी की कहानी है, जो अपने हृदय के ताप और वाष्प[2] से निरंतर उद्वेलित रहा। वेग प्रखर होने पर थरथराहट और भूकंप भी आये। और अंत में वह सुंदर प्राकृतिक शिखर अग्नि की लपटों में फट भी पड़ा।

जीवन के सारे कड़वे-तीखे अनुभवों ने नीत्शे को जिस रूप में ढाला, उसकी नखच्छवि कॉलिन विल्सन के शब्दों में इस प्रकार रूपायित की जा सकती है :

"वह हमेशा अकेला था। उसने कभी शादी न की, किसी स्त्री के साथ न

1. बर्थ ऑफ ट्रैजेडी, अनु० हाउसमन, अनविन. (1914)
2. द आउटसाइडर, कॉलिन विल्सन (पान बुक्स 1871), पृ० 141

रहा, कभी भी उसका, किसी महिला से, शायद एक वेश्या को छोड़कर, शारीरिक संबंध हुआ ही नहीं। बहुत थोड़े-से लोग उसे पसंद करते और सराहते थे, जिनकी संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है। वे भी जीवन में कभी-न-कभी विरोधी हो ही गये। इन सबके अलावा बीमारियां, जो सैनिक-काल में उत्तराधिकार में मिलीं, हमेशा लगी रहीं। जिन्दगी का ढर्रा ऐसा कि रोज ही सिरदर्द, आन्त्र, शारीरिक और मानसिक थकान का तांता बंधा रहा। अदूरदर्शिता ऐसी जो अक्सर अंधा बनाकर छोड़ देती। ये सभी कुछ 'ब्रेक्स' थे जो उसकी रचना को पदे-पदे रोक देते। स्वस्थ होने की हालत में बुद्धि ऊंचे शिखरों की यात्रा करती, किंतु जीवन की क्षुद्रताएं हमेशा इंतजार में रहती, कब वह नीचे उतरे और वे उसे बोझ और थकान से धर दबोचें। आत्मसम्मान ऐसा कि अक्सर लोगों से लताड़ मिली। एक बार एक दोस्त को उसने भेजा कि एक युवती से उससे विवाह का प्रस्ताव करे। युवती ने झट इनकार किया और नीत्शे की जगह उसके दोस्त से शादी कर बैठी। यह महिला लउ सलोमे थी, जो बाद में जर्मनी के सुप्रसिद्ध नीत्शेवादी कवि रिल्के की घनिष्ठ मित्र बनी। उसकी सबसे अधिक बौद्धिक और तर्कपूर्ण रचनाएं जर्मन संस्कृति के भाग्य-विधाताओं का कोप-भाजन बनीं और लोगों ने उस पर अतिरिक्त अहम्मन्यता और पागलपन का दोष लगाया। प्रतीतियां, जो उसे महान् और विश्व को हिला देनेवाली लगीं, जनता की रंचमात्र दिलचस्पी का कारण न बन सकीं।[1] ऐसा था नीत्शे का अभिमानी, बौद्धिक, अकेला, असंतुष्ट, भीतर ही भीतर सुलगता हुआ जीवन! उसका जीवन खुद में इतना आकर्षक था, परस्पर-विरोधी दृश्यों से अंकित चित्रपटी की तरह, कि थामस मान-जैसे लेखक को भी 'डाक्टर फास्तुस' लिखते समय भाव और अभिव्यक्ति के समन्वय पर नये ढंग से सोचना पड़ा।

नीत्शे पागल हो गया! जरथुष्ट्र, बौद्धिक शक्ति का नियंता, बुद्धि खो बैठा!!

नीत्शे का साहित्य विक्षिप्त मस्तिष्क की देन नहीं है, जैसा बहुत-से अभिप्रायग्रस्त लोग कहा करते हैं। यह एक ऐसे महान् विचारक का साहित्य है जिसने मनुष्यता को सही मूल्य प्रदान करने के लिए अपनी आहुति दे दी। उसने लिखा है, "मेरा जीवन कागज पर अदृश्य के हाथों बनायी हुई खरोंच है। लगता है प्रकृति नयी लेखनी का परीक्षण करना चाहती है।" ऐसी ही शब्दावली कीर्केगार्द ने भी कही थी कि, "वह ईश्वर के शक्तिशाली हाथों से खिंचे हुए असफल प्रयोग के रूप में मिटा दिया जायेगा।" नीत्शे और कीर्केगार्द के जीवन के दर्शन और भोग एक-दूसरे से अजीब साम्य रखते हैं। एच० जे० ब्लाखम ने लिखा है कि, "नीत्शे और

1. सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ० 43

कीर्केगार्द एक-दूसरे से इतने दूर हैं जैसे दोनों ध्रुव और इतने पास हैं जैसे जुड़वां भाई।" दोनों की समानता और विषमता इतनी सूक्ष्म और अर्थपूर्ण है कि अस्तित्ववादी दार्शनिक यास्पर्स को इन्हें स्पष्ट करते हुए लगा कि 'ये भवितव्यता की अभिव्यक्तियों' का विश्लेषण कर रहे हैं। दोनों ने अपने अस्तित्व की गहराई से बुद्धिवादिता का विरोध किया। उनकी यह मान्यता भावुकता को प्रश्रय नहीं देती, बल्कि इस बात का ऐलान करती है कि भोगी हुई अनुभूतियों के भीतर से ही जीवन का सत्य प्रस्फुटित हुआ करता है। सत्य के वैज्ञानिक रूप में दोनों को शंका थी, क्योंकि उन्हें आश्चर्य होता था कि ये विज्ञान के अध्यापक परीक्षण के उन विषम क्षणों से नहीं गुजरते जहां हर चीज बिल्कुल नयी शक्ल में बदल जाती है और जहां आदमी धीरे-धीरे इतना तो जान ही जाता है कि दुनिया में कुछ ऐसा जरूर है जो अनजान रह जाता है। दोनों के लिए ईमानदारी परम स्पृहणीय है। दोनों जीवन की वास्तविकताओं को महत्त्व देते हैं। अपने युग के मानवीय संघर्ष को दोनों ने भोगा और जिया था। आत्म-विश्लेषण और चिंतन दोनों का साधन था। इसे ही कीर्केगार्द 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान' कहता था, और नीत्शे 'आत्म-रेचन'। अपने अनुभव-सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए दोनों ने वह कलात्मक रूप उपलब्ध किया जिससे दोनों की रचनाएं अपनेयुग की सर्वश्रेष्ठ साहित्य-कृतियां बन गयीं। संगीत का जादू दोनों के सिर पर चढ़कर बोलता था। दोनों ने चेतावनी दी कि उनका अनुसरण करने का प्रयत्न न किया जाये।

यास्पर्स ने बहुत जोर देकर लिखा है—"उनका यह अस्तित्ववादी चिंतन संभव हुआ ही न होता यदि उन्होंने परंपरा को पूर्णतः आत्मसात् न कर लिया होता। दोनों प्राचीन शिक्षण में सुसंस्कृत हुए। दोनों ही ईसाई करुणा के वातावरण में पले।"[1] दोनों ही अपवाद-से लगते हैं चाहे वह शक्ल हो, शारीरिक ढांचा या स्वास्थ्य हो। दोनों पागल करार दिये गये। दोनों को पहली कृति से ही सनसनीखेज सफलता मिली, पर दोनों को ही बाद की कृतियों को अपने खर्च से छपाना पड़ा। दोनों ने अपने युग के सत्य को, छोटे-से-छोटे पहलू के साथ इस ढंग और ढब से देखा, जिसे उनका समसामयिक कोई देख न पाया, पर वे अदम्य विश्वास से उसे ही प्रतिफलित करते रहे ताकि आगे आनेवाले उसे ठीक तौर से देख सकें—इसी कारण दोनों ही अपने ढंग के अद्वितीय, एकाकी, ऐतिहासिक भवितव्यता के रूप बन गये। कीर्केगार्द अपने को सर्वथा अपूर्ण मनुष्य कहता था। उसे लगता था कि उसके पास मनुष्य-व्यक्तित्व में संपृक्त पशुभाग है ही नहीं। नीत्शे अपने स्वास्थ्य से जन्म-भर जूझता रहा और अपने को 'अपना ही प्रकाश पीनेवाली रात्रि' मानकर संतुष्ट होता रहा। दोनों का जीवन एकाकी पीड़ा की

1. रीज़न एक्ज़िस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ० 43

अविस्मरणीय कहानी है। आत्म-चिंतन और सत्य की प्रतीति, दोनों को मादक आनंद से भर जाती थी। कीर्केगार्द का कहना था, "मैं अपने को विचारों के साथ नृत्य करने के लिए अच्छी तरह शिक्षित कर चुका हूं।" नीत्शे कठिनाइयों से जूझते हुए, टकराते हुए कहता है, "इन पर विजय पाना ऐसे ही होता है जैसे एक उन्मुक्त नृत्य।" दोनों का वर्णन मनुष्य के अस्तित्व की जीवंत व्याख्या करता है जैसा अब तक के दर्शन में पहले कभी नहीं हुआ। दोनों अनुकरण से परे हैं। जब भी किसी ने इनकी शैलियों का अनुकरण करने का प्रयत्न किया, हास्यास्पद अवश्य बना।

इतना ही नहीं, कीर्केगार्द और नीत्शे, के या यों कहिए अस्तित्ववादी दर्शन के, विरोधियों ने एक और अद्भुत समानता भी खोज निकाली। कीर्केगार्द और रेगिना के असफल प्रणय के लिए कीर्केगार्द को दोषी बताया गया। इ० एल० एलेन ने कीर्केगार्द को नपुंसक बताते हुए लिखा कि, "उसने इसीलिए रेगिना से बिना कारण संबंध तोड़ लिये और अपनी शारीरिक दुर्बलताओं को कोसता रहा।" नीत्शे के पागलपन का कारण एक वेश्या से उसका संबंध बताया गया जहां से वह सिफ-लिस के कीटाणु ले आया।

किंतु नीत्शे और कीर्केगार्द का अंतर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वाल्टर काफमैन के शब्दों में : "कीर्केगार्द की तरह नीत्शे आडंबर, मिथ्यात्व और छलावा का विरोधी था, पर उसने अपनी भावुकता को कभी भी बुद्धिगम्य तर्क के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न नहीं किया।" उसने ईसाइयत पर आक्रमण किया, उसका विरोध किया, पर इसलिए नहीं कि वह ईसाइयत को अकाट्य बौद्धिक सत्य का प्रतीक मानता था। बल्कि इसलिए कि उसे वह तर्क-सम्मत बौद्धिकता का शत्रु मानता था। काफमैन का तो यहां तक कहना है कि अनार्किस्ट आदि कृतियों में नीत्शे ने धार्मिक आस्था के प्रति जो कटु आलोचना की है, वह प्रकारांतर से कीर्केगार्द की मान्यताओं को तिरस्कृत करती-सी प्रतीत होती है। नीत्शे ने मृत्यु, भय, घुटन, कुंठा आदि को विवेच्य विषय के रूप में उतना महत्त्व नहीं दिया जितना क्रूरता, निर्ममता, आडंबर और नैतिकता-अनैतिकता को।

नीत्शे-जीवन-दर्शन की उपलब्धि भी कीर्केगार्द से बिलकुल भिन्न है। शक्ति की अभीप्सा, महत् मानव और शाश्वत गति-चक्र के दर्शन-बिंदु नीत्शे के विराट् व्यक्तित्व की अद्भुत जिजीविषा के सूचक हैं। वह मजाक में अपने को संपूर्ण ईसाइयत की वंश-पंजिका का उत्तराधिकारी कहता था। इसी कारण उसके विरोध में भी एक मसीहापन है जो सामान्य व्यक्तित्व में नहीं दिखायी पड़ता।

दर्शन के रूप में उसका दृष्टिकोण मूलतः मनोवैज्ञानिक है। ज्ञान का उद्देश्य क्या है? वह उत्तर देता है : अस्ति (बीइंग) का आवि : (बीकमिंग) पर आरोप। वह मानता है कि मनुष्य का अस्तित्व चिंतन के क्षेत्र में पूर्णतः समा नहीं पाता। उसे इसी कारण उस अनुभवन के क्षेत्र से भी परीक्षित करने की आवश्यकता है। वह अपने को शून्यवादी नहीं मानता क्योंकि उसके विचार से शून्यवादी वह है जो विद्यमान जगत् को कहता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए; और जो होना चाहिए उसके बारे में वह सोचता है कि उसका तो अस्तित्व होता ही नहीं। वह मानता है कि यूरोप का संपूर्ण आधुनिक चिंतन पराजित जाति का प्रलाप है। सहानुभूति, करुणा, प्रेम के ऊंचे आदर्श हारी हुई जाति ने अपने मन को संतुष्ट करने के लिए गढ़ लिये हैं। शासक पर अपनी वरीयता स्थापित करने के लिए पुरोहित-वर्ग वैराग्य और त्याग की बातें करते रहते हैं। इसीलिए नीत्शे आधुनिक यूरोपीय जीवन की विषमताओं को दूर करने के लिए यूनानी संस्कृति का पुनरुज्जीवन आवश्यक मानता था। वह सैनिक या शासकीय मूल्यों का समर्थक या प्रचारक नहीं है, वह सिर्फ इन स्थितियों के भीतर से मानवीय अस्तित्व का सही अर्थ खोज रहा था। ग्रीक संस्कृति का क्षमाशील रूप यूरोप को मनचाही शांति नहीं दे सकता, इसलिए नीत्शे ने एक नये जीवन-दर्शन की प्रतीति की : वह दर्शन है 'महत् मानव' का। 'महत् मानव' को प्राप्त करने के लिए हमें नैतिक, सामाजिक और आत्मिक मूल्यों को मानवीय अस्तित्व के भीतर से उपलब्ध करना होगा। अब तक मूल्यों की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही विवेचना होती रही है। नीत्शे ने कहा—आज का मनुष्य आत्मचिंतन-परक हो गया है, इसलिए अब उसे मूल्यों के प्रति उत्तरदायित्व और स्वतंत्रता की जिम्मेदारी खुद स्वीकार करनी होगी। मानव-मूल्य स्वतंत्र-सचेत व्यक्तियों के समाज में, सावधानी से अनेक शताब्दियों से पालित-पोषित अनुशासन की उपज होते हैं। उच्चतर मानव-मूल्यों की इस भूमि को वह 'डायनिसियन प्रवृत्ति' का जीवन कहा करता था। इसका मूल मंत्र है—शक्ति की अभीप्सा। उसके हिसाब से संस्कृति और मूल्यों की पद्धतियों का विशिष्ट अंतर दो पक्षों में है—एक वह जो जीवन को 'ना' कहता है और दूसरा जो जीवन को 'हां' कहता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में इसे 'निवृत्ति' और 'प्रवृत्ति' मार्ग कहा जा सकता है। नीत्शे 'हां' मार्ग का समर्थक था। लोग इसी कारण उसे 'हां' वाचक दार्शनिक भी कहते हैं।

उसने 'महत् मानव' की जाति का लक्षण बताते हुए लिखा है, "केवल शासक जाति ही नहीं, जो शासन का कार्य करती रहे, बल्कि एक ऐसी जाति जो विविध जीवंत क्षेत्रों से विभूषित हो, जिसमें सौंदर्य, शौर्य, वीरता, संस्कृति, चालचलन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों के वहन की शक्ति हो, जो एक 'हां-वाचक' जाति हो,

जो जीवन के सभी वैभव-भोगों की भोक्ता हो, जो इतनी शक्तिशाली हो कि ऊपर से लादे जानेवाले 'गुणों' और कायदे-कानूनों के अत्याचारों को ध्वस्त कर सके, सम्पन्न ऐसी कि जहां कंजूसी या कर्मकांड, पिष्टपेषण को स्थान न हो, पाप-पुण्य से परे एक ऐसी जाति जिसके थाले में विरल और आपवादिक पौधे आसानी से पनप सकें।'[1]

नीत्शे के 'महत् मानव' के इस सिद्धांत को अक्सर नाजियों की महत्त्वाकांक्षा के साथ जोड़ दिया जाता है। इसका विरोध करते हुए एक ओर काफमैन ने लिखा है कि यह ऐसा ही कार्य है जैसा यदि कोई सेंट फ्रांसिस को क्रूर धर्म-न्यायालयों के साथ जोड़ दे जिनकी स्थापना में उनके अनुयायियों का भी हाथ रहा हो। उधर कॉलिन विल्सन ने एक आत्मीय उदाहरण लेकर इस मत का विरोध किया है। उनके हिसाब से यह वैसा ही कार्य है जैसा श्री रामकृष्ण की आराध्या काली को मध्यकालीन रक्तपिपासु ठगों के साथ जोड़ना।

वस्तुत: नीत्शे एक विरल आपवादिक पौधा था जो किसी भी जाति में शताब्दियों के अतिशय उद्वेलन के बीच पैदा हुआ करता है। उसको बिना जाने यास्पर्स, हेडगर, सार्त्र अविवेच्य रह जायेंगे। कामू उसकी प्रेरणा की वदान्यता हमेशा स्वीकार करता है। फ्रायड, एडलर, युंग सभी उससे प्रभावित हुए। निकोलाई हार्टमैन, मैक्सशीलर और स्पेंग्लर बिना उसके संदर्भ के स्पष्ट नहीं हो सकते। वह थामस मान, हरमन हेस, स्टीफेन जार्ज, रिल्के, बर्नार्ड शा, आंद्रे जीद आदि महान् कृतिकारों की प्रेरणाभूमि था।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि वह स्वस्थ और प्रकृतिस्थ न रहा, किंतु तब शायद वह अपने को यह कह भी न पाता कि, "मैं एक ऐसा मिश्रण हूं जो पकने के पहले ही विस्फोट से फट जाता है।" ऐसा आदमी ही इतने विश्वास से यह कह सकता है कि सार्थक जिंदगी जीने के लिए आवश्यक है कि खतरों से आदमी घबड़ाये नहीं, उनका स्वागत करे, क्योंकि हर खतरा मनुष्य-व्यक्तित्व में शक्ति की एक नयी अभीप्सा जगा जाता है।

1. द विल टु पावर, पृ० 898

नवमुक्त मनुष्य का मसीहा : दॉस्तोवस्की

दॉस्तोवस्की, एक ऐसी महान् प्रतिभा जिसने अपने काल के साहित्यिक चिंतन में एक तूफान खड़ा कर दिया और नीत्शे के शब्दों में एक ऐसी आवाज़, जो अपनी ही रूह को उड़ाती है, मानो कानों में कहती है—अपने को जानो! उसके लघु-उपन्यास 'पुअर फोक' को पढ़कर महान् आलोचक बेलिन्स्की ने कहा था, "क्या तुम समझते हो, यह तुमने क्या लिखा है? यह असंभव है कि सिर्फ़ बीस बरस के तुम यह सब समझ सको।"

"मैं बीमार हूं। अपकार-भावना से पीड़ित हूं। आंतरिक प्रेरणा से हीन हूं। मैं सोचता हूं मेरी आंतों में दर्द है। यकीनन मैं यह नहीं जानता कि यह दर्द क्या है और कहां है! यद्यपि मैं डॉक्टर और दवा के प्रति आस्थावान हूं, पर मैं कोई दवा नहीं लेता—कभी नहीं ली। और मैं अपनी अपकार-भावना के कारण ही दवा नहीं लेता। आप शायद इसे समझ नहीं सके, खैर, मैं समझता हूं। और यह स्वाभाविक ही है कि मैं इसे आपको समझा नहीं सकता—क्योंकि उसी अपकार-भावना के कारण ही मैं आपसे कुछ कहने चला हूं। औरों की अपेक्षा मैं कहीं ज्यादा अच्छी तरह यह समझता हूं कि अपकार मैं अपना ही करूंगा, किसी और का नहीं—फिर भी मैं दवा नहीं लेता तो क्यों?—सिर्फ़ उसी अपकार-भावना के कारण। मेरी आंतों में दर्द है, ठीक है, इसे और बदतर होने दो।"[1]

यह तटस्थ, उदासीन, आत्मनिंदात्मक, डूबी-डूबी-सी आवाज उस व्यक्ति की

1. नोट्स फ्रॉम अंडरग्राउंड, एक्जिस्टेंशियलिज्म फ्रॉम दॉस्तोवस्की टु सार्त्र, पृ० 53

है, जिसकी रचनाओं ने समूचे यूरोप के मानसिक जगत् को झकझोरकर रख दिया था। नीत्शे ने 1887 ईस्वी में 'मेमॉयर्स फ्रॉम अंडरग्राउंड' का फ्रेंच-अनुवाद पढ़कर अपने एक मित्र को लिखा था : "कुछ हफ्ते पहले तक मैं इस व्यक्ति दॉस्तोवस्की का नाम भी नहीं जानता था। और तभी एक दिन अचानक किताबों की दूकान पर इसकी यह रचना हाथ लगी। बस, तुरंत ही एक गहरी आत्मीयता का स्फुरण चित्त को छू गया। कितना वास्तविक संगीत है यह, अत्यंत विचित्र, अत्यंत अ-जर्मनीय। एक आवाज, अपनी ही हंसी उड़ाती हुई, एक आवाज मानो कानों में कहती है—अपने को जानो !"

अपना ही मखौल उड़ानेवाली, अपने को तार-तार करके सबके सामने रख देनेवाली यह आवाज थी फियोडोर मिखाइलोविच दॉस्तोवस्की की !

1819 ईस्वी में माइकेल दॉस्तोवस्की ने मास्को के एक व्यापारी की कन्या से विवाह किया और सैनिक डॉक्टर के पद से अलग होकर वहीं मरिन्स्की अस्पताल में डॉक्टर का कार्य-भार संभाला। वहीं 20 अक्तूबर, 1821 ईस्वी को माइकेल के दूसरे बच्चे फियोडोर दॉस्तोवस्की का जन्म हुआ। अस्पताल से संबद्ध एक क्वार्टर में दॉस्तोवस्की-परिवार समाज से पूर्णरूप से विलग होकर रहता था। परिवार में कुल सात बच्चे थे। फिर भी फियोडोर को शैशव में संगीविहीन की तरह रहना पड़ा, क्योंकि भाई-बहनों के साथ व्यतीत होनेवाला शैशव बाहरी दुनिया से बिल्कुल निर्लिप्त था और इसी कारण नीरसता और ऊब को ही शैशव का पर्याय मान लेना पड़ा। इस तंग घेरे ने फियोडोर के मन में ईर्ष्या, स्नायविक उत्तेजना और कलह को जन्म दिया और परिवार की निरर्थकता की भावना को दृढ़ किया।

फियोडोर जब दस वर्ष का था, उसके पिता ने दारोवोयतुला में एक छोटा-सा कृषि-फार्म खरीदा, जहां बच्चे अपनी मां के साथ गर्मियां बिताते थे। यह स्थान मास्को से करीब 100 मील दूर था। यहां पहुंचने के लिए घोड़ा-गाड़ी से दो दिन की यात्रा करनी पड़ती। फियोडोर के जीवन का यह एकमेव अवसर था, जब उसने देहाती जीवन को देखा और यह अनुभव उसी के शब्दों में "मेरी बाद की जिंदगी पर सबसे अधिक गहरा और मजबूत प्रभाव डालने में समर्थ हुआ।" यहीं एक बार जब वह एक काल्पनिक खूंखार भेड़िये के त्रास से पसीने-पसीने होने लगा, तो मरेई नामक किसान ने धीरज बंधाया और भयमुक्त किया। साइबेरिया की जेल में बीस वर्ष बाद जब लेखक ने इस घटना को फिर स्मरण किया, तो अंतश्चेतना में एक नया उन्मेष फूट पड़ा, जिसने 'जर्नल ऑफ ऐन आथर' के सर्वोत्तम प्रसंगों को अपनी ज्योति से उद्भासित कर दिया। 1834 ई०

में फियोडोर अपने बड़े भाई माइकेल के साथ शेरभेक की व्यक्तिगत पाठशाला में दाखिल हुआ। जैसे-जैसे दोनों भाई बड़े हुए, पिता ने अपने मन का छिपा रहस्य खोलना शुरू किया कि वे गरीब हैं, कि उन्हें खुद अपने पैरों पर खड़ा होना है, नहीं तो एक दिन उन्हें भिखारी बनकर सड़कों पर घूमना पड़ेगा।

आर्थिक कष्ट और निराशा के इसी वातावरण में फियोडोर की मां का 1837 ई० में देहांत हो गया। मां की स्मृति के बारे में वह हमेशा ही आदर से भरा रहा और अपने अनेक चरित्रों की माताओं के 'प्यार-भरे, किंतु प्रभावहीन व्यक्तित्वों को' चित्रित करके मानो वह अपनी मरी मां को ही श्रद्धांजलि देता रहा। मां की मृत्यु के दिनों में ही द्वंद्व-युद्ध में प्रसिद्ध रूसी कवि पुश्किन मारा गया और फियोडोर के मन में यह गम बराबर बना रहा कि यदि मां के श्राद्ध के दिन न होते, तो वह पुश्किन की मृत्यु पर शोकसूचक काली पट्टी जरूर बांधता।

बहुत कोशिश करके बाप ने दोनों भाइयों को पीटर्सबर्ग की सैनिक इंजीनियरिंग अकादमी में भर्ती होने के लिए तैयारी करने की व्यवस्था की। जनवरी 1838 ई० में फियोडोर प्रारंभिक परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अकादमी में दाखिल हुआ, पर माइकेल आंख की खराबी के कारण छांट दिया गया। लाचार माइकेल को रीवाल की इंजीनियरिंग अकादमी की शरण लेनी पड़ी। इस अप्रत्याशित वियोग ने दोनों के बीच उन पत्रों को जन्म दिया, जो फियोडोर की आत्मकथा की अटूट कड़ी बने। अकादमी में फियोडोर एक बाहरी और अजनबी की तरह ही रहा। न तो नृत्य-कक्षाओं में उसे दिलचस्पी थी और न जीवन के दूसरे मनोविनोदवाले कार्यों में। वह अपनी तरह की दो-एक विरल 'प्रतिभाओं' के साथ बैठकर 'अस्तित्व' की समस्याओं पर विचार-विमर्श करता, अथवा सोनेवाले कमरे के अंधेरे कोने में बैठकर मोमबत्ती की रोशनी में कुछ लिखता-पढ़ता रहता। वहीं सिड्लोवस्की से उसकी मित्रता हुई, जिसके संपर्क ने मन के भीतर दबे रोमैंटिक स्वभाव को और तीव्र बनाया और उसने बड़े भाई को 'नदी के किनारे' के 'आत्म-हत्या-भरे आह्वान' जैसे विषयों पर अनेक पत्र लिखे। उस समय दॉस्तोवस्की पर शिलर छाया हुआ था, उसने माइकेल को 1838-39 में कभी एक पत्र में लिखा—

"यह एक प्रकार का आनंदातिरेक है। सिड्लोवस्की के साथ मेरे परिचय ने मुझे उच्च जीवन के अनेक क्षणों का बोध कराया है—पर यहां उसकी बात नहीं कर रहा। वह आनंद मेरे एक दूसरे साथी के कारण मिला है—जिसे मैं प्रेम करता था। —मैंने इसी समय शिलर को कंठस्थ कर लिया। उसके बारे में बातें कीं, जोशोखरोश के साथ बहसें कीं, और मैं मानता हूं कि किस्मत ने मेरे साथ कभी भी ऐसी दया नहीं की जैसी जिंदगी के इन सुखी दिनों में उस महान् कवि को जानने का अवसर देकर किया। 'उसके' साथ बैठकर शिलर पढ़ते हुए मैंने

उसके स्वभाव में भव्य, दिव्यतापूर्ण डॉन कारलो, मारक्विस पोसा, और मोर्टिमर के दर्शन किये। मेरी यह दोस्ती जाने कितना-कितना सुख और दुख दे गयी—और अब मैं हमेशा-हमेशा के लिए इस विषय में खामोश रहूंगा। शिलर का नाम मेरी जिंदगी का एक हिस्सा बन चुका है, एक जादूभरा शब्द जो मेरे मन में हजारों-हजार सपने जगा जाता है, कड़वे सपने! बंधु, इसीलिए मैंने तुम्हें कभी भी शिलर के बारे में कुछ नहीं लिखा—क्योंकि अब तो शिलर का नाम सुनने से ही पीड़ा होती है।"

यह पत्र जिस 'उस' के बारे में लिखा गया है, वह स्त्री नहीं पुरुष था। पर वह पुरुष था कौन, यह आज तक ठीक-ठीक मालूम नहीं हो सका है।

शिलर और दूसरे साहित्यिकों के प्रति दॉस्तोवस्की का प्रेम बढ़ता गया। 1843 में अकादमी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वह सैनिक इंजीनियरिंग विभाग में अफसर नियुक्त हुआ। उन दिनों रूसी साहित्य-जगत् एक प्रकार के पुनर्जागरण के दौर से गुजर रहा था और अनेक पत्र-पत्रिकाएं कुकुरमुत्ते की तरह पनप रही थीं। फियोडोर को लगा कि वह यदि मौलिक रचनाएं न भी करे, तो सिर्फ यूरोपियन क्लैसिक्स का अनुवाद भर करके लखपती हो जायेगा। उसने बालजाक और जार्ज सैंड के अनुवाद शुरू भी किये, कुछ पूरे भी हुए, पर धन कमाने की योजनाएं कारगर न हो सकीं। यह जरूर हुआ कि इन 'महान् कार्यों' से अधिकारी नाराज हुए और उन्होंने ऐसी उजाड़ जगहों में उसका तबादला करने का निश्चय किया, जहां वे 'महत् कार्य' पनप न सकें। लाचार फियोडोर ने त्यागपत्र दे दिया और 1844-45 के बीच बड़ी मेहनत से उसने 'पुअर फोक' (गरीब लोग) नामक लघु-उपन्यास लिखा। महान् आलोचक बेलिन्स्की इस रचना को पढ़कर फियोडोर से बोला, "क्या तुम समझते हो, यह तुमने क्या लिखा है? यह असंभव है कि सिर्फ बीस बरस के तुम यह सब समझ सको—।" फियोडोर मन-ही-मन दुहराने लगा, 'क्या सचमुच मैं इतना महान् हो गया हूं?' इसके तीस वर्ष बाद उसने इस घटना को अपने जीवन का 'सर्वोत्तम उद्दीपक क्षण' कहा, पर उस समय तो वह निश्चय ही खुशी के मारे पागल हो गया था और इस तरह आत्मदर्शन में लीन हो गया था कि तुर्गनेव, नेक्रासोव, और अनेनकोव आदि उसका मजाक उड़ाते थे और उसके नवोदय को 'साहित्य के मुख पर पका हुआ मस्सा' कहकर व्यंग्य करते थे। एक लतीफा यह भी उड़ा उन दिनों कि 'अलमांक' के संपादक से उसने कहा था कि 'पुअर फोक' के धारावाहिक अंश एक खास हाशिया देकर छापे जायें ताकि दूसरी सामग्री से वे एकदम अलग मालूम हो सकें।

यहीं आकर दॉस्तोवस्की की जिंदगी एक ऐसा मोड़ लेती है कि वह अस्तित्व

के असदृश्य सूक्ष्म रूपाकार को उसकी सारी पीड़ा और चेतना के बोध के साथ देखने और अनुभव करने के लिए संकल्पित हो जाता है। रूसी परराष्ट्र विभाग का एक अधिकारी था पेत्राशेवेस्की, जिसने कुछ नवयुवकों को एकत्र करके एक छोटी-सी गोष्ठी बनायी, जिसमें चाय-सिगरेट के दौर के साथ ही विचार की स्वतंत्रता, दास-प्रथा के निराकरण के उपाय, परिवार-उन्मूलन तथा आदर्श समूह-जीवन आदि विषयों पर गप्पबाजी होती। यह सही है कि तत्कालीन रूसी नवयुवक फ्रेंच साहित्य से बहुत प्रभावित हो रहे थे, पर इस लघु गोष्ठी या फ्रांस की ई० 1848 की राज्यक्रांति से कोई संबंध क्या हो सकता था भला, पर उस राज्यक्रांति की सफलता से सामंतशाही आतंकित थी और दूसरी ओर पेत्राशेवेस्की की गोष्ठी अपने विचारों को ज्यादा लोकप्रिय बनाने के लिए अवैध रूप से प्रेस खरीदकर पैम्फलेट छापना शुरू कर चुकी थी। लिहाजा एक दिन राजद्रोह के अपराध में सभी पकड़े गये और सैनिक अदालत में मुकदमा चला। मुकदमे के दौरान दॉस्तो-वस्की को आठ महीने पीटर पाल के किले में एकांत कैद काटनी पड़ी और बाद में आठ वर्ष के लिए साइबेरिया में कालेपानी की सजा हुई। जार ने यह सजा कम करके चार वर्ष कर दी और बाद के चार वर्षों तक सामान्य सैनिक की हैसियत से नौकरी बजाने का हुक्म मिला। 1849 ई० के दिसंबर के अंतिम दिन थे। समूचा पीटर्सबर्ग क्रिस्मस की खुशियों में मशगूल था, उधर कैदी अपने मित्रों, बंधुओं और परिचितों को छोड़कर साइबेरिया के अंतिम छोर पर स्थित ओमस्क की जेल के लिए रवाना हो रहे थे।

ओमस्क की इस ऐतिहासिक जेल और उसकी जर्जर कालकोठरी ने दॉस्तो-वस्की की आत्मा में अंधेरी जिंदगी की धड़कनों का जो अंकन किया, वे मुर्दा घर के संस्मरणों (इन मेमॉयर्स फ्रॉम द हाउस ऑफ डेड) में अपनी पूरी भयानकता के के साथ सुरक्षित हैं। अपराध और दंड (क्राइम ऐंड पनिशमेंट), एक लेखक की डायरी (द जर्नल ऑफ ऐन ऑथर) तथा कर्मोजोव-बंधु (ब्रदर्स कर्मोजोव) आदि कृतियाँ भी कालकोठरी की निराश मुर्दनीभरी छाया की कालिमा से बची नहीं रह पायी हैं। यह कालकोठरी कितनी-कितनी जिंदगी, खुशी और आदमी की ममता पी चुकी है, कौन जानता है!

जेल में आने के पहले दॉस्तोवस्की निश्चित रूप से चिड़चिड़ा, एकांतप्रिय और किंचित् रूखे स्वभाव का था। पोलिश सहयोगी तोकारजेवस्की ने अपने जेल के संस्मरणों में दॉस्तोवस्की को बड़ी जुगुप्सा से याद किया है, किंतु यह भी सच है कि पीड़ा के भोग और भोग की चेतना ने दॉस्तोवस्की के मन में लोकजीवन के प्रति एक अद्भुत आकांक्षा को जन्म दिया। कर्मोजोव-बंधु उपन्यास का एक पात्र कहता है—"ज्यों-ज्यों व्यक्तियों से मैं घृणा करता, त्यों-त्यों मानवता के प्रति मेरा प्रेम बढ़ता जाता!"

इसी जेल में उसे मिर्गी के दौरे भी आये। वैसे तो वह हमेशा ही स्वभावगत दुर्बलता से पीड़ित, अस्थिर-चित्त और अस्वस्थ मन का व्यक्ति था, पर मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इस घटना के पीछे 'ओडिपुस कॉम्प्लेक्स' का एक विचित्र उदाहरण खोज निकाला। 1929 ई० में जुलाई के 'रीयलिस्ट' में डॉ० फ्रायड ने दॉस्तोवस्की के पिता की मृत्यु को एक संगीन घटना बताया और लिखा कि इसी ने इस महान् उपन्यासकार के समूचे जीवन को आमूल-चूल बदल दिया। मिर्गी की इस घटना को उन्होंने पिता की मृत्यु का परिणाम बताया। यह सच है कि फियोडोर के पिता की मृत्यु नहीं, हत्या हुई थी; यह भी सच है, कि उसका उस पर बहुत संजीदा प्रभाव पड़ा; किंतु जैसा कि दॉस्तोवस्की की जीवनी के सुप्रसिद्ध लेखक एडवर्ड हैलेटकार ने लिखा है—"जिन स्नायविक दुर्बलताओं का पीटर्सबर्ग में वह शिकार हुआ, उनका इस मिर्गी से कोई संबंध न था। दूसरे, यह घटना उसके पिता की मृत्यु के आठ-नौ वर्ष बाद घटित हुई। एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का मनोविश्लेषण एक आकर्षक मनोविनोद है ही; केवल यह सत्य कि दॉस्तोवस्की के पिता की हत्या हुई और अंतिम वर्षों में उसने एक ऐसा उपन्यास लिखा, जिसमें एक पुत्र अपने पिता की हत्या करता है, मनोविश्लेषणकर्ताओं के लिए, विशेषकर 'ओडिपुस कॉम्प्लेक्स' के पुरोहितों के लिए ऐसा आकर्षक मसाला प्रतीत हुआ कि बस ले उड़े। जर्मन भाषा में इस विषय को लेकर जाने कितने गंभीर शोध और विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान भी प्रकाशित हो गये।"

15 फरवरी, 1854 ई० को दॉस्तोवस्की जेल से मुक्त होकर सजा का दूसरा दौर पूरा करने के लिए तैयार हुआ। सामान्य सैनिक के रूप में उसकी नियुक्ति सातवीं साइबेरियन इनफैंट्री, बटालियन में हुई और वह सेमिपलटिन्स्क पहुंचा। किरगिज के घास-मैदान के छोर पर यह करीब पांच हजार आबादी का एक छोटा-सा कस्बा था। इस कस्बे के जिला प्रॉसीक्यूटर बैरन रैंगल के संस्मरणों में दॉस्तोवस्की के इस अवधि के जीवन का पूरा ब्यौरा मिल जाता है। यहीं वह मारिया दिमित्रियेवना के संपर्क में आया। मारिया का शराबी पति कस्टम विभाग में मामूली नौकर था और वह एक बच्चे की मां थी। जेल के एकांत से टूटी हुई आत्मा उसके रूप और यौवन के आकर्षण से अभिभूत हो गयी। यदि रैंगल ने अपने मित्र दॉस्तोवस्की की अनेकशः सहायता न की होती, तो वह निस्संदेह पागल हो जाता। अपने बड़े भाई माइकेल को भ्रम में डालकर तथा रैंगल की उदारता का नाजायज फायदा उठाकर वह अपने इस उन्मत्तकारी प्रेम का पोषण करता रहा, उसने रैंगल के नाम एक पत्र में लिखा—"कृपया गर्दन मत हिलाइए, मुझे गलत मत समझिए। मैं जानता हूं कि उसके साथ मेरे संबंध से प्रेरित अनेक कार्य अनुचित

है। मैं पूर्ण निराश हूं—कुछ सोच नहीं पाता—काश मैं उसे देख पाता, उससे बातें कर पाता—मैं पागल हूं। इस तरह का प्रेम एक बीमारी है। मेरी दूसरी बार की यात्रा ने मुझे कर्ज के बोझ से दबा दिया है—मैं उससे मिल न पाया—मैं फिर जाऊंगा, चाहे बर्बाद ही क्यों न हो जाऊं। भगवान् के नाम पर, कृपया यह पत्र मेरे भाई को न दिखायें। मैं उसके प्रति पूर्णतः अपराधी हूं। बेचारा अपनी अंतिम शक्ति-भर मेरी मदद करता है और मैं उसके पैसों को इस ढंग से बर्बाद करता हूं।" अपने मन के अपराध-भाव की ऐसी तटस्थ मीमांसा दॉस्तोवस्की के चरित्र की कुंजी है और इस तटस्थ निर्मम चेतना ने ही उसे इंसानियत की अछूती ऊंचाइयों तक पहुंचाया।

धन और प्रतिष्ठा के मोह ने मारिया को अपने पति की मृत्यु के बाद दॉस्तोवस्की से विवाह करने को विवश किया। रैंगल और दूसरे लोगों की सहायता से सजा माफ हुई और 1857 ई० के अगस्त के मध्य तक वह मास्को के पास त्वीर कस्बे में सपरिवार आकर रहने लगा।

चार-पांच वर्ष के बाद मारिया की मृत्यु हुई। मृत्यु के पहले भी मारिया से दॉस्तोवस्की को कोई शांति न मिली। उन्मत्तकारी प्रेम शंका और संदेह की गुंजलक में सिसकता रहा। उसने रैंगल को एक पत्र में लिखा—"वह मुझे बेइंतहा प्यार करती थी, मुझे भी उससे असीम प्रेम था। किंतु हम एक-दूसरे के साथ खुशी से रह न सके। यद्यपि हम निश्चित रूप से दुखी थे, क्योंकि वह एक विचित्र, संदेह-पूर्ण, अजीब कल्पनात्मक स्वभाव की महिला थी, पर हम एक-दूसरे को प्यार करने से चूके नहीं—दुख ज्यों-ज्यों बढ़ा, प्यार और दृढ़ होता गया।" मारिया अपने प्रथम पति की मृत्यु के पहले भी टोमस्क के नवयुवक अध्यापक वरगुजोव से प्रेम करती थी, और उसने दॉस्तोवस्की के साथ विवाह मन से स्वीकार नहीं किया था। बहरहाल, इस विवाह से अतृप्त दुखी आत्मा को सहारा और सुकून की जगह वितृष्णा और पीड़ा का अवदान ही मिला। मिर्गी के दौरे जल्दी-जल्दी आने लगे।

इस बीच उसने कुछ नहीं लिखा और अंततः जब 'मेमॉयर्स फ्रॉम अंडर-ग्राउंड' का लेखन शुरू हुआ तो अंतस् की सारी जड़ीभूत वेदना उसकी लेखनी में अवतरित हो गयी। 'मैं बीमार हूं। बीमार हूं। कभी न स्वस्थ होने वाला असाध्य रोगी—!!!' इस दुख की चेतना ने उसके लेखन में दार्शनिक चिंतन की अमिट छाप अंकित कर दी।

10 जुलाई, 1864 को दॉस्तोवस्की के बड़े भाई माइकेल की मृत्यु हुई। एक विधवा पत्नी, चार बच्चे, एक रक्षिता और उसका बच्चा, 300 रूबल अवशिष्ट संपत्ति के रूप में, पच्चीस हजार रूबल का कर्ज, जिनमें 15 हजार का भुगतान तुरंत ही करना था, 'इपोक' नामक पत्रिका, जो घाटे पर चलती और जिसके दो अंक समय से पिछड़े थे—यह था उत्तराधिकार जो छोड़कर बड़ा भाई मरा। दुखी

ज़िंदगी को जिस-तिस करके खींचते हुए दॉस्तोवस्की के लिए सबसे पल्ला झाड़कर अलग हो जाना ज्यादा संतोषप्रद होता, किंतु उसने अपने बड़े भाई की स्मृति के साथ कृतघ्न व्यवहार की अपेक्षा सबका भार अपने मिर्गी से पीड़ित कांपते कंधों पर लाद लेना ही ठीक समझा। जैसे-तैसे 'इपोक' के कुछ अंक निकले और बंद हुआ। उपलब्धि दॉस्तोवस्की के लिए सिर्फ यह कि एक नयी लेखिका अन्ना कोरविन से परिचय, वही मोह और अंत में निराशा। कर्जदारों का दबाव बढ़ता गया। 'क्राइम ऐंड पनिशमेंट', 'ईडियट', आदि कृतियों पर जो कुछ पारिश्रमिक मिला, उसका अधिकांश कर्जदारों और आश्रितों की भेंट चढ़ गया। एक उपन्यास, जिसके नाम पर उसने स्टेलोवस्की से अग्रिम पैसे लिये थे, किसी भी हालत में 1 दिसंबर, 1866 को पूरा होना ही चाहिए था, अभी तक खटाई मे पड़ा था। निश्चित समय पर उपन्यास न देने के बदले स्टेलोवस्की को दॉस्तोवस्की के सभी उपन्यासों की बिना रॉयल्टी पुस्तकाकार छाप लेने का हक था। कुछ सहानुभूतिशील मित्रों की राय से तय हुआ कि किसी टाइपिस्ट को नॉविल 'डिक्टेट' किया जाये, तो शायद समय से पूरा हो जायेगा। और टाइपिस्ट के रूप में अन्ना गिरोरियेना से मुलाकात हुई, जो उसकी दूसरी पत्नी बनी। यह लड़की दॉस्तोवस्की के लिए डूबते का सहारा होकर आयी। न सिर्फ इसने अपने नारी-सुलभ आकर्षण और सद्व्यवहार से 'गैम्बलर' उपन्यास को 26 दिन में पूरा करा लिया, बल्कि कालांतर में परिवारवालों की कलह, स्वार्थ और बदनाम करने की कुचेष्टाओं के भीतर, आर्थिक तंगदस्ती में भी दॉस्तोवस्की का उद्धार करती रही और उसे मृत्यु के मुख से बचाने की गरज से वह परिवारवालों को गफलत में रखकर विदेश-यात्रा पर ले गयी।

विदेश-यात्रा और निवास के दौरान अन्ना ने अपने दुखी, अतृप्त, अशांत और संदेह-स्वभाव के पति को किस प्रकार पूर्ण परितृप्त आदमी में बदल दिया, वह उसकी लिखी डायरी में पूरी तरह अंकित है। दॉस्तोवस्की के अंदर एक ही ऐसा दुर्गुण रह गया, जो वह न छुड़ा सकी और जिसके चलते वह कई बार आर्थिक संकटों की कटुता सहने के लिए विवश भी हुई। दॉस्तोवस्की न केवल जुआ खेलता रहा, बल्कि इसे बुद्धिसम्मत मानवीय स्वभाव कहकर शराफत का जामा भी पहनाता रहा। पति-पत्नी स्वदेश लौटे, क्योंकि दॉस्तोवस्की को विदेश में रहकर हमेशा यह लगता रहा कि वह मातृभूमि रूस से बहुत अलग हो गया है। पीटर्सबर्ग लौट आने पर अन्ना के प्रेम, व्यवस्था और अनुशासन ने पहले का सारा इतिहास ही बदल दिया। वह पति की रचनाओं को खुद प्रकाशित करने लगी और उसकी मोह-ममता और प्रेम की छांव में सामान्य दुखी दॉस्तोवस्की एक

असाधारण सृजक के रूप में सामने आया। विभिन्न संस्थाओं को उसने नैतिक और आर्थिक रूप में सहायता की। तब उसके जीवन का वह भी क्षण आया जब 1880 ई० में पुश्किन की वर्षगांठ पर आयोजित उत्सव में सम्मिलित होने के लिए मास्को पहुंचा। 8 जून की सभा में उसके भाषण ने जादू का-सा असर किया। तुर्गनेव का बहुप्रतीक्षित भाषण 7 जून को हुआ और उसके पाश्चात्य ढंग-ढर्रे के कारण दर्शकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। दॉस्तोवस्की की श्रद्धांजलि इतनी ममत्वपूर्ण, आत्मीय और भावपूर्ण थी कि दर्शक विचलित हो गये। "और जब मैंने अंत में सकल मानवता की एकता की बात की, तो सारा हाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज रहा था, दर्शक जो एक-दूसरे से अपरिचित और अज्ञात थे सिसक रहे थे, रो रहे थे, गले से गले मिल रहे थे। चारों तरफ सिर्फ एक ही शोर था—धर्मदूत ! मसीहा ! ! तुर्गनेव, जिसके विषय में मैंने कई नम्र प्रशंसात्मक शब्द कहे थे, आंखों में आंसू भरे मुझसे लिपट गया। अनेनकोव ने मुझसे हाथ मिलाया और मेरी गर्दन चूम ली।"

सरकारी जीवनीकार स्ट्राखोव ने लिखा है—"सब लोग इस तरह सुन रहे थे, गोया अब तक किसी ने पुश्किन पर कुछ कहा ही नहीं।"

रविवार, 28 जनवरी 1881 को, दॉस्तोवस्की की मस्तिष्क के पक्षाघात से मृत्यु हुई। रूसी इतिहास में पहली बार एक लेखक की मृत्यु सार्वजनिक शोक का विषय बनी। शोक राजकीय और जन सामान्य का। जनवरी 31 को करीब तीस हजार जन-समुदाय, अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधि, हजारों दर्शक, अपने प्रिय लेखक को विदाई देनेवाले हजारों पाठक शव के साथ चले। और उल्लेख्य घटना यह भी कि "चर्च के कार्यकर्ताओं को दूसरे रोज फर्श की सफाई करते समय कितना-कितना आश्चर्य हुआ, जब उन्हें कहीं भी जली हुई सिगरेट का कोई टुकड़ा तक न मिला।"[1]

दॉस्तोवस्की केवल महान् लेखक ही नहीं, एक अप्रतिम चिंतक और 'विज़नरी' भी था। उसकी अंतरात्मा के भीतर एक वंद गरजता, उफनता समुद्र था, जो न तो कभी शांत हुआ, न स्थिर। अब तक उसका अधिकांश खंडश: अध्ययन ही हुआ है। दॉस्तोवस्की का अध्ययन उसके तन और मन की समग्र शक्तियों के युगपत् विश्लेषण के बिना संभव नहीं है। मेरेजकोव्स्की के लिए दॉस्तोवस्की शारीरिक स्थूल तत्वों की महत्ता का माध्यम मात्र हो सकता है, किंतु जैसा कि निकोलाई बर्दिएॅफ ने लिखा है कि, "एक महान् लेखक वस्तुत: अपनी आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति होता है, इसलिए उसका अध्ययन हमेशा ही शरीर और आत्मा

1 दॉस्तोवस्की की जीवनी से, जिसे एडवर्ड हैलटकार ने लिखा है।

की युगनद्ध समग्रता के साथ ही होना चाहिए।"[1] यह सच है कि दॉस्तोवस्की मनुष्य की तमाम शारीरिक बुभुक्षा और विक्षोभकारी सक्रियता का अद्भुत जानकार था, और वह अपने आश्चर्यकारी सूक्ष्म चित्रणों के बल पर पाठकों को वशीभूत करके खींचता चला जाता है, किंतु यह उसके साहित्य का अत्यंत ऊपरी स्तर मात्र है। वस्तुतः वह मनुष्य के अंतःस्तरीय लोक का, मानवीय स्वभाव के समूचे घात-प्रतिघात का विलक्षण चितेरा है, और यहीं उसकी समूची प्रतिभा का शाश्वत अवदान अपनी विलक्षण गरिमा के साथ प्रकट भी हुआ है।

तॉल्सताय और दॉस्तोवस्की का अंतर स्पष्ट करते हुए निकोलाई बर्दिएफ ने जो विचार दिये हैं, वे बड़ी सूक्ष्मता से नये और पुराने के संघर्ष को उद्भासित करते-से प्रतीत होते हैं। दॉस्तोवस्की मनुष्य की अंतरात्मा की उस अंतिम सतह पर था, जहां वह सब-कुछ, काला-सफेद, अच्छा-बुरा भलीभांति देख सकता था, जबकि तॉल्सतॉय शारीरिक स्तर या मन के आरंभिक स्तर के जगत् पर विद्यमान थे। वे यह नहीं देख सके कि आत्मा के अंततम अंधलोकों में क्या हो रहा है। तॉल्सतॉय तर्कपूर्ण बुद्धिवादिता को प्रधान मानकर जो समाधान प्रस्तुत करते हैं, वे दॉस्तोवस्की के निकट 'ज्यामितिशास्त्र' से अधिक महत्त्व नहीं रखते। इसी बात को लक्ष्य करके उसने लिखा था कि "दो और दो मिलकर चार होते हैं—यह ज्ञान जीवन का अंग या उसका सूचक नहीं है, सच कहा जाये तो मृत्यु के आरंभ का सूचक है।" तॉल्सतॉय दॉस्तोवस्की की अपेक्षा ज्यादा कलापूर्ण लेखक हो सकते हैं, किंतु चिंतन के क्षेत्र में उनका महत्त्व नहीं के बराबर है। दॉस्तोवस्की घटनाओं और वस्तुओं के बारे में इतनी सूक्ष्म जानकारी रखता था कि वह मनुष्य-जीवन के शाश्वत विरोधाभासों से भलीभांति परिचित था। इसी कारण वह यह भी जानता था कि जीवन में प्रत्येक दो डग आगे की यात्रा के लिए एक डग पीछे भी रखना पड़ सकता है, जबकि तॉल्सतॉय अपने सहज संदेहहीन सीधे मार्ग पर बिना इधर-उधर देखे चलते जाने के समर्थक थे। दॉस्तोवस्की समूचा सत्य मानवीय आत्मा के विश्लेषण के भीतर से पाना चाहता था, इसीलिए वह भविष्यद्रष्टा की तरह यह जान सका कि मानवीय जीवन में नयी क्रांतियां पनप रही हैं, और विस्फोट होने को हैं; जबकि तॉल्सतॉय के लिए मानव-जीवन प्रकृति से विकसित उसी सूक्ष्म द्रव्य पदार्थ की उपज मात्र था, जो पेड़-पौधों और पशु-जगत् को रूपाकार देती है। तॉल्सतॉय का नैतिक मानवतावाद प्राचीन परंपरा का सर्वोच्च कलात्मक विकास है, किंतु यह आधुनिक युग की इंसानियत की आकांक्षाओं और अतृप्तियों का सच्चा दर्पण कदापि नहीं है। नीत्शे की भाषा में कहें तो तॉल्सतॉय 'अपोलोवादी' यानी निवृत्तिमूलक कलाकार हैं,

1. बर्दिएफ, 'दॉस्तोवस्की, मीड ऐंड वार्ड', 1936

जबकि दॉस्तोवस्की डायनीसियन चिंतक है, प्रवृत्तिमूलक, हां—बाधक भोक्ता और विचारक। अपने समूचे जीवन में तॉल्सतॉय ईश्वर को ढूंढते रहे, उस तरह जैसे एक अनीश्वरवादी ढूंढता है और अपने को नीतिशास्त्र के भंवरजाल में उलझाते रहे, जबकि दॉस्तोवस्की को ईश्वर से कोई सीधा मतलब न था, किंतु उसने मनुष्य के अंतर्तम के अंधलोकों के भीतर सत्य की जो रोशनी देखी वह आस्तिक और ईश्वर-अन्वेषियों के लिए भी दुर्लभ थी। एक प्रकार से वह ईश्वर से संबंध न रखनेवाला आध्यात्मिक व्यक्ति था। दॉस्तोवस्की नीतिशास्त्री नहीं था किंतु मनुष्य के स्वभाव और नियति (डेस्टिनी) से इस तरह परिचित था कि ईश्वर ने स्वयं उसके सामने अपने को मानवीय अंतर्लोक की अंधेरी संधियों में प्रकट कर दिया। इस दृष्टि से उसने सिद्ध कर दिया कि पारंपरिक नीतिशास्त्र की अपेक्षा मानव-प्राणिशास्त्र का ज्ञान कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। अनेक दृष्टियों से वह नीत्शे के बहुत करीब है, किंतु दोनों में एक बहुत बड़ा अंतर भी है। वह नीत्शे की भांति काल्पनिक महत् मानव की बेदी पर वर्तमान मनुष्य, अपनी सारी अच्छाई-बुराई से निर्मित सामान्य मनुष्य की हत्या करना नहीं चाहता। वह वर्तमान मनुष्य के अस्तित्व को न तो शर्म की चीज मानता है और न ही ग्लानि की। वह उस महत् मानव की कल्पना भी नहीं कर सकता जो अपने सामने श्रद्धा से घुटने झुकाये सामान्य मनुष्य को लीलकर अपने जादुई बड़प्पन की पुष्टि करे।

दॉस्तोवस्की के लिए वास्तविक सत्य रक्त-मज्जा-मांस के बने मनुष्य के बाहरी कलेवर से उत्पन्न रूपों में प्रकट नहीं है, बल्कि उसके अंतस् की गहराइयों में निहित है। ये सत्य ईश्वर की मूल मान्यता के साथ मनुष्य से संबद्ध नहीं हैं, बल्कि मनुष्य की मूल मान्यता के साथ ईश्वर और शैतान से जुड़े हैं। उसने स्वयं लिखा है—**"मेरा सारा ध्येय मनुष्य पर केंद्रित है और सारा प्रयत्न इसी के स्वभाव, चरित्र, जीवन-पद्धति, अनुभव और विचारों के विश्लेषण और परिज्ञान में कृत-संकल्प है।"** वह अंधेरे जीवन का शिल्पी है, इस जीवन में वह आशा की किरण जगाना चाहता है, पर कैसे? किसी बाहरी प्रकाश को अवतरित करके नहीं; बल्कि स्वतंत्रता का वह चरम रूप प्रदान करके, जिसमें मनुष्य राज्य, धर्म, नियम, यहां तक कि विराट् कास्मिक ऋत (ऑर्डर) से भी मुक्त होकर अपने अंतर्तम को उद्घाटित कर सके। दांते की तरह वह मनुष्य को स्वर्ग और नरक के मध्य स्थित एक विवश एजेंट नहीं मानता। मानवतावाद की चरम परिणति का नतीजा वह जानता था कि आदमी आदर्शवादिता से आक्रांत होकर दो 'डाइमेंशन' का प्राणी हो जायेगा, जिसमें लंबाई-चौड़ाई तो होगी, गहराई नहीं रहेगी; क्योंकि मनुष्य की वास्तविक आत्मा या अंतःलोक दृष्टि से ओझल होते जायेंगे, इसीलिए वह

मनुष्य को सब मिथ्यादर्शों से मुक्त कराने के लिए 'अतिवादी' स्वतंत्रता' का पक्षपाती है, जो उसे कगार से ढकेलकर उस गहराई में झोंक देगी जिसे लोग नरक कहते हैं, किंतु जो मनुष्य की आत्मा का एक सबल पक्ष है और उसकी मुक्ति के बीज उसी में छिपे हैं।

दॉस्तोवस्की के इन प्रयत्नों ने एक ऐसे मनुष्य को जन्म दिया, जिसे हम अंतःस्तरीय (अंडरग्राउंड) मनुष्य कह सकते हैं। इस नवमुक्त मानव की विशेषताएं हैं : अतिशयतावादी वैयक्तिकता, अकेलापन, और विश्व के ऊपरी समन्वय के स्वर की अवहेलना। वह अपने प्रति एक इस कदर का अस्वास्थ्यकर आत्ममोह जगाता है कि निरंतर अपनी आत्मा के अंधलोकों की यात्राओं में ही लीन रहता है। वह हमेशा ही अतार्किकता (अनरीजनेबलनेस) और अर्थहीनता (ऐब्सर्डिटी) में विश्वास करता है। 'मेमॉयर्स फ्रॉम अंडरग्राउंड' का नायक कहता है, "यदि किसी दिन विश्व-नियमों के भीतर, अचानक सामान्य नाक-नक्श का, या मुंह बिचकाये चेहरे का कोई व्यक्ति प्रकट हो जाये और हमसे कहे—सुनो भद्र लोगो, यदि मैं तुम्हारे सारे बुद्धिपूर्ण तर्क-जाल को टुकड़े-टुकड़े में ध्वस्त कर दूं और तुम्हारे समूचे रेखागणित को कूड़े में फेंक दूं और फिर हम सब अपनी ही बेवकूफ इच्छा के सहारे जीवन का उपक्रम करें—तो ? यो मुझे विश्वास है कि यह कोई महत्त्व की बात न होते हुए भी, इतना तो करेगी ही कि लोग उस आदमी पर फूलमालाओं की बौछार कर देंगे—ऐसा क्यों ? इसलिए कि यह आदमी का सहज स्वभाव है। केवल एक स्थिति में आदमी जान-बूझकर कुछ निरर्थक (ऐब्सर्ड) करना ही चाहता है और वह भी कितनी सर्वोच्च मूर्खतापूर्ण स्थिति है—आदमी कोई 'ऐब्सर्ड' कार्य क्यों करना चाहता है ? ताकि वह दिखा सके कि 'ऐब्सर्ड' चाहने और करने का उसका पूरा अधिकार है।" दॉस्तोवस्की कहना चाहता है कि मनुष्य के स्वभाव में ऐसा कुछ व्याप्त है कि उसे बने-बनाये बौद्धिक नियमों के सांचे में ढालने का प्रयत्न विफल हो जाता है। मानव-समाज कभी भी 'तर्कपूर्ण' समष्टि नहीं बन सकता, क्योंकि अतार्किकता उसके जीवन का अंग है।

फिर इस अतार्किक विश्व की रक्षा कौन कर सकता है ? "सौंदर्य इसकी रक्षा करेगा !"—यह दॉस्तोवस्की का उत्तर है। सौंदर्य से बड़ा कोई तत्त्व दॉस्तोवस्की नहीं जानता, किंतु उसका यह सौंदर्य तत्त्व भी ईश्वर की तरह शांत-प्रसन्न कोई दिव्य पदार्थ नहीं है। सौंदर्य स्वयं में खंडित, मोहग्रस्त, भयंकर रूपाकार लेकर निरंतर गतिमान रहता है। मित्या कर्मोजोव के शब्दों मे, "सौंदर्य एक भयंकर और त्रासकारी वस्तु है। वह प्रियतमा से आरंभ होकर समलिंगी संबंधों की ओर मुड़ सकता है। इसका सबसे आश्चर्यजनक रूप तो वह है जब कोई आदमी 'सोडम' के आदर्शों को आत्मा में पूजते हुए भी 'मेरी प्रियतमा' की माला जपा करे।"

यह है दॉस्तोवस्की की मान्यता 'नवमुक्त मनुष्य' के बारे में, जिसने प्राचीन मानवतावाद के सारे सिद्धांतों को ध्वस्त करके रख दिया।

जैसा मैंने पहले ही कहा, दॉस्तोवस्की जिस 'नवमुक्त मनुष्य' में विश्वास करता था, उसके सही अस्तित्व के लिए 'स्वतंत्रता' को आवश्यक उपादान मानता था। यह स्वतंत्रता दॉस्तोवस्की के विचार से सर्वानुशासक तत्त्व है, जिसके बिना संसार में किसी भी प्रकार की समन्वयधर्मिता (हॉरमोनी) का उदय नहीं हो सकता। वह मानता है कि इस 'स्वतंत्रता' को समझना आसान है, इसका इस्तेमाल बहुत कठिन है, क्योंकि सामाजिक, धार्मिक या नैतिक बंधन हमें एक प्रकार की सुरक्षा प्रदान करते हैं। स्वतंत्रता का उपभोग करने का अर्थ है: सभी प्रकार के खतरों को जानने और उनको सहने की जोखिम उठाना। ब्रदर्स करमाज़ोव का एक पात्र कहता है—**"क्या तुम भूल गये कि पाप-पुण्य का अंतर ढूंढ़ने की स्वतंत्रता का उपभोग करने की अपेक्षा मनुष्य 'शांति' ज्यादा पसंद करता है, यहां तक कि मौत भी !"** लेकिन इस स्वतंत्रता के बिना मनुष्य के अस्तित्व को[1] कोई अर्थ दे पाना असंभव है।

इसी स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ एक प्रश्न नैतिकता-अनैतिकता का भी है। मनुष्य पाप क्यों करता है? उत्तर है: जहां स्वतंत्रता होगी वहां पाप भी होगा। अगर स्वतंत्रता नहीं है, तो समूचे पाप के लिए ईश्वर को ही उत्तरदायी बनना पड़ेगा। स्वतंत्रता अनुचित-उचित के विवेक से परे (इर्रैशनल) का तत्त्व है। वह एक साथ ही अच्छे-बुरे, दोनों तरह के कार्यों को जन्म देती है। स्वतंत्रता की ही विकृतिजन्य उपलब्धि है स्वेच्छा। और यह स्वेच्छा या स्वेच्छाचारिता पाप की जननी बनती है। इसीलिए पाप या बुराई को कभी भी बहिर्गत दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। बहुत-से लोग इस तर्क को दॉस्तोवस्की का 'आत्म-संगोपन' कार्य मानते हैं, यानी प्रकारांतर से वह अपने नीच कृत्यों को सम्मानजनक बना रहा था, किंतु ऐसी बात है नहीं। वह हमेशा ही बुराई या पाप के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। वह यह जरूर मानता है कि पाप का पथ भी मनुष्यता का दुर्निवार भोग्य है और उस पर चलने के लिए विवश होते हुए भी मनुष्य अपने अनुभवों से अपने को संपन्न और कभी-कभी उन्नयनशील भी बना सकता है। बहुत-से लोगों को दॉस्तोवस्की इसी मान्यता के कारण एक खतरनाक लेखक प्रतीत होता है, क्योंकि उसके अनुसार आत्मिक संपन्नता और उन्नयनशीलता के लिए पाप के मार्ग पर चलना आवश्यक है। किंतु वे उसके विचार का दूसरा खंड भूल जाते हैं। दॉस्तोवस्की की धारणा थी कि स्वतंत्रता के अभिशाप के रूप में उत्पन्न पाप-कार्यों से पूर्णतः बचा तो नहीं जा सकता, किंतु निरंतर आत्मिक उच्चता पाने के लिए यह आवश्यक जरूर है

1. द ब्रदर्स करमोज़ोव, कारटैंस, गार्नेट, हीनमान (1948), पृ० 296

कि पाप को घृणित मानकर तिरस्कृत करें और उसके प्रतिकार में प्राप्त यातना को प्रायश्चित के रूप में सचेतन होकर भोगें। यहां भी वह मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रति अपनी अक्षय आस्था के कारण मनुष्य को सुधारने का कार्य किसी बाहरी नियंत्रण को नहीं, बल्कि पापी के भीतर के सद्विवेक को ही सौंपना चाहता है। दॉस्तोवस्की का यह रूप ईसाई धर्म के श्रद्धालुओं को हमेशा ही उससे वितृष्ण करता रहा। यद्यपि निकोलाई बर्दियेफ जैसे क्रिश्चियन अस्तित्ववादी दॉस्तोवस्की के इस रूप को भी उसकी धार्मिक अंतर्मुखीनता का प्रभाव ही स्वीकार कर लेते हैं।

दॉस्तोवस्की के लिए प्रेम वह सत्ता है जो व्यक्ति को टुकड़ों में विदीर्ण कर देती है। यह एक अग्नि है। उछलती हुई दीपशिखा, जो सब-कुछ को लील जाती है। बर्दियेफ ने लिखा है कि "रूस में प्रेम दो व्यक्तियों के आंगिक संपर्क से ऊंचे उठकर किसी विशेष सूक्ष्म सत्ता का रूप नहीं ले सका।" दॉस्तोवस्की भी न तो प्रेम के आध्यात्मिक सप्रयोजन की उचित मीमांसा कर पाया और न उसे उस भावना में बदल ही सका जहां वह आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'लोकमंगल' की प्रेरणा बन जाता है। यह जरूर है कि वह 'जन-जीवन' के प्रति हमेशा श्रद्धावान् रहा।

क्रांति और समाजवाद के विषय में भी उसकी धारणाएं काफी व्यक्तिगत थीं। क्रांति को वह 'अराजकता' का ही रूप मानता था, क्योंकि इसके पीछे मनुष्य की ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित होने की दुष्प्रवृत्ति होती है। फिर भी वह आंतरिक क्रांतियों का प्रबल समर्थक था। समाजवाद के प्रति उसकी आस्था के दो कारण थे। पहला यह कि वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता और मानवीय आत्मा को पूरी स्वतंत्रता प्रदान करता है; और दूसरे उसे लगता था कि दुखी और कष्ट-ग्रस्त लोगों के उद्धार और विश्वव्यापी मानवता की एकता का एकमात्र रास्ता यही है। दॉस्तोवस्की के विषय में एक आश्चर्यजनक तथ्य यह भी है कि वह रूसी जीवन और जनता का अनन्य प्रेमी था। वह खोखले अंतरराष्ट्रीयतावाद में विश्वास नहीं करता था। वह वस्तुतः एक प्रकार का पॉपुलिस्ट (जनवादी) था, जो यह मानते थे कि जनता जनार्दन का ही रूप है। जनता में ही ईश्वरीय विभूति का दर्शन होता है। दॉस्तोवस्की के व्यक्तित्व का यह एक अद्भुत पहलू है कि वह घोर वैयक्तिक अंतःस्तरीय मानव का एक चितेरा था, राष्ट्रीय था, समाजवादी था और सभी अर्थों में आधुनिक था।

अस्तित्ववादी विचारधारा :
यास्पर्स और हेडगर

एक लंबे अर्से तक अस्तित्ववाद एक वैयक्तिक दृष्टि बना रहा, लेकिन इसे शुद्ध दर्शन के चौखटे में जड़ने का काम किया यास्पर्स और हेडगर ने। यास्पर्स ने कहा कि अस्तित्ववादी दर्शन विचार की वह पद्धति है जो समूचे भौतिक ज्ञान के प्रयोग और उसके अतिक्रमण का प्रयत्न करती है, ताकि मनुष्य अपनी 'अपनीयता' को पा सके। यास्पर्स की इन मौलिक उद्भावनाओं को समेटकर हेडगर ने अस्तित्ववाद को नया रूप देने की कोशिश की।

कीर्केगार्द, नीत्शे और दॉस्तोवस्की ने मनुष्य-जीवन को उसकी सारी विवशताओं और मजबूरियों के साथ एक नयी दृष्टि से देखा। इन सबने सत्य को वैयक्तिक अनुभव की वस्तु माना और उन्होंने अस्तित्व के ऊपर आरोपित सभी आवरणों को, चाहे वे धर्म, समाज, राज्य, दर्शन अथवा नैतिकता से ही उत्पन्न क्यों न हों, विदीर्ण करने का प्रयत्न किया। व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिली, जीवन को एक नयी दृष्टि। पर यह दृष्टि दृष्टि-मात्र ही थी, दर्शन नहीं बन सकी। अस्तित्ववादी दृष्टि कभी दर्शन बन भी सकती है, इसमें संदेह है। क्योंकि अस्तित्ववाद जीवन की जिस वैयक्तिक चेतना को प्रमुखता देता है वह दर्शन का विषय बनकर सिद्धांतों के चौखटे में कसी जाकर कितनी वैयक्तिक या कितनी सचेत रह पायेगी, कहना कठिन है। व्यक्तिगत सत्य दर्शन की पिटी-पिटाई पद्धति में संयोजित होकर अपना संपूर्ण निजत्व खो बैठता है। इसी कारण कीर्केगार्द या नीत्शे को शुद्ध दार्शनिक कहना बहुत लोगों को स्वीकार्य नहीं होता।

अस्तित्ववाद को शुद्ध दर्शन की पीठिका प्रदान की यास्पर्स, हेडगर और मार्सल ने। इनके पूरे चिंतन को संक्षेप में उतार पाना संभव नहीं है। इसलिए इस निबंध को इन दार्शनिक धाराओं को समझने का एक प्रयास मात्र माना जाए।

यास्पर्स का जन्म 23 फरवरी, 1883 ई० को ओल्डेनबर्ग में हुआ। पिता कार्ल यास्पर्स पहले शेरिफ, बाद में एक बैंक के डायरेक्टर थे। मां का नाम था हेनिरिते नी तानजेन। बचपन भाई-बहनों के साथ काफी सुरक्षित और प्यार-दुलार-भरे वातावरण में गुजरा। प्रोटेस्टेंट मत से संबंधित मामूली कर्मकांड के अलावा धर्म का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। दर्शन में डॉक्टर होने की कभी इच्छा न थी, सच तो यह है कि यास्पर्स चिकित्सा के डॉक्टर हैं। "दार्शनिक होने का निर्णय मुझे उतना ही बेवकूफीपूर्ण लगता जितना कवि होने का।" विधिशास्त्र में भी रुचि थी, एटर्नी होने की तमन्ना भी। दर्शन का भी अध्ययन किया। "किंतु दर्शन में मैं जो ढूंढ़ता था वह कभी न मिला। न तो सृष्टि-विषयक मौलिक अनुभूतियां, और न ही स्वयं को सुधारने या प्रगति करने के लिए कोई निर्देश या संकेत। मिलीं सिर्फ वे संदिग्ध धारणाएं, जो वैज्ञानिक तथ्यता का दावा करती थीं। विधिशास्त्र का अध्ययन हमेशा ही असंतोषकारी इसलिए रहा कि मैं कभी यह न समझ पाया कि आखिर यह जीवन के किन क्षेत्रों में उपयोगी हो सकता है। लाचार 1902 ई० के आसपास यूनिवर्सिटी के तीसरे सेमेस्टर (सत्र) के खत्म होते-होते चिकित्सा-विज्ञान की ओर मुड़ जाना पड़ा। ऊपर से डॉक्टरी पेशे का रुख था, मगर भीतर से मन विश्वविद्यालय के अकादमीय जीवन के लिए लालायित था।" पांच वर्ष तक चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन करने के बाद वे हाइडेलबर्ग के मानसिक चिकित्सा-क्लीनिक में सहायक नियुक्त हुए। प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं ने यास्पर्स को पूरी तरह झकझोर कर रख दिया। "युद्ध-पूर्व यूरोप का जीवन अब शायद कभी न लौटेगा!" व्यथा की इस प्रतीति ने पुनः दर्शन की ओर अभिरुचि जगायी। 1921 में वे हाइडेलबर्ग दर्शन के प्राध्यापक बने। 1937 ई० में नाजी शासन ने राजनीतिक कारणों से उन्हें विश्वविद्यालयीय सेवाओं से मुक्त कर दिया—प्रमुख कारण यह था कि उनकी पत्नी यहूदी थी। 1945 में उन्हें पुनः दर्शन के प्राध्यापक-पद पर बहाल कर दिया गया। 1948 से वे बासेल में दर्शन के प्रोफेसर के रूप में कार्य कर रहे हैं। 1931 में उन्होंने समसामयिक जीवन पर एक अत्यंत विचारोत्तेजक पुस्तिका लिखी—'आधुनिक जगत् और मनुष्य'। "मनुष्य के अस्तित्व के लिए सबसे बड़ा खतरा," यास्पर्स के अनुसार, "प्राविधिक साधनों के बल पर समूह के लिए नियोजित उत्पादन की व्यवस्था है। आधुनिक कल्याणकारी शासन के विशाल मशीनी संगठन में मनुष्य

जो था, वह आगे नहीं रह सकता। इन दोनों को महत्तम दार्शनिक मानते हुए यास्पर्स ने लिखा है कि इनकी सबसे बड़ी मौलिक विशेषता यह है कि इनका दर्शन स्कूली वैदुष्य से प्रेरित न होकर अपने निजी अस्तित्व के भीतर से उपजा-पनपा था। इनके मूल प्रश्न पूर्णतः क्रांतिकारी और नवीन हैं—जैसे, मनुष्य होने का अर्थ क्या है? या ईसाई होने या न होने का तात्पर्य क्या है? ये प्रश्न वस्तुतः पारंपरिक दर्शन के रूप और उपयोगिता पर ही प्रश्नवाचक चिह्न हैं। दार्शनिक फार्मूले या निष्कर्ष क्या सार्वजनिक तथ्य और समझ की वस्तु हो सकते हैं? और क्या ऐसा होते हुए भी वे मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियों और विचित्र प्रतीतियों से मेल रखते हैं? हीगेल तक आकर पारंपरिक दर्शन समाप्त हो जाता है, क्योंकि अब बौद्धिक सर्वसत्तात्मक प्रवृत्तियां किसी भी व्यक्ति के लिए कोई अर्थ नहीं रखतीं। प्रसिद्ध अस्तित्ववादी लेखिका सिमोन द बोउवा ने हीगेल की इस सर्वसत्तात्मक सूक्ष्म वायवी पद्धति को संकेत करते हुए लिखा था—"बिब्लोथि के नेशनल के अवैयक्तिक वातावरण में हीगेल पढ़ते हुए मुझे अगस्त, 1940 में बड़ी शांति मिली थी। किंतु जब मैं पुनः सड़क पर आयी—असली आकाश के नीचे और उस वातावरण से दूर—तो मुझे लगा कि इस पद्धति का मेरे लिए कोई उपयोग ही नहीं है। अव्यक्त अनंत सत्ता के बहाने, मृत्यु के लिए जो कुछ सांत्वना के शब्द मिले थे, वे व्यर्थ थे, क्योंकि मैं अब भी जीवित लोगों के बीच ही रहकर जीना चाहती थी।"[1]

यास्पर्स को वैज्ञानिक तथ्यतावाद और उसकी पद्धति के प्रति अश्रद्धा न थी, किंतु वे उसकी पूरी सीमा भी समझते थे। इसीलिए उन्होंने लिखा कि विज्ञान के भी

अपने अंधविश्वास और रूढ़ियां हैं। धर्म और विज्ञान की इन रूढ़ियों और अंध-विश्वासों से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है कि हम शुद्ध दर्शन की ओर लौट चलें। दार्शनिक के लिए अनिवार्य है कि वह जाने कि विज्ञान स्थूल पदार्थ और उसके गुण-धर्म की व्याख्या तक ही सीमित है। वह कभी भी मनुष्य के आंतरिक सत्य का साक्षी नहीं बन सकता। यास्पर्स कीर्केगार्द की तरह ही मानते थे कि वास्तविक सत्य व्यक्ति की आंतरिकता है—(ट्रुथ इज सब्जेक्टिविटी)। विज्ञान मानवीय चेतना और दृश्य जगत् के बीच संबंध का सूत्र है। किंतु व्यक्त जगत्मात्र का ज्ञान मानवता का अभीष्ट तो नहीं? मनुष्य-जीवन में ऐसे अनेक सूक्ष्म तत्त्व, संवेग, अनुभूतियां, उद्रेक तथा सहज ज्ञान के तत्त्व मिलते हैं, जो न तो फार्मूलों में बंध सकते हैं और न वस्तु-भेद या गुण-भेद की श्रेणियों में ही उन्हें समेटा जा सकता है। ये शक्तिशाली तत्त्व और सूक्ष्म भाव पूर्ण विकसित और पूर्ण साधन-संपन्न वैज्ञानिक प्रक्रिया के अंदर भी छनकर फिसल जाते हैं और पकड़ में नहीं आते।

मानव-ज्ञान के दूसरे रूप भी, जिनमें इतिहास प्रमुख है, अस्तित्व को समझने के लिए निष्प्रयोजन ही रहते हैं। यह सही है कि इस अन्वेषण में शोधकर्त्ता का निजी मस्तिष्क भी काम करता है, किंतु इसके निर्णय भी हमेशा अपूर्ण ही रहते हैं। एक अर्थ में, इसी कारण, इतिहास हमेशा ही समसामयिक होता है। इसलिए दर्शन को यदि वस्तुतः उपयोगी बनाना है, तो उसे विज्ञान की रूढ़िवादिता और निर्दिष्टतावादी पद्धतियों से अलग रहना ही होगा। आज के दार्शनिक को अब जीवन और जगत् के उस आंतरिक रूप की ओर उन्मुख होना है, जहां विज्ञान की पहुंच नहीं हो सकती। इस प्रकार के ज्ञान के लिए पूर्ण जागरूक आत्मचेतना की आवश्यकता है।

पूर्ण जागरूक आत्मचेतना मेरी अपनी निजी ऐकांतिकता और स्वतंत्रता ही है। मैं क्या कहूं? मेरे सारे कर्म-रूप, आकांक्षाएं, कर्तव्यपरायणता, आज्ञा-कारिता, अधिकारियों के सामने समर्पण और सफलताएं—सभी मेरे वास्तविक 'मैं' को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए मेरे लिए वास्तविक अस्तित्व का अर्थ है मेरी अपनी मौलिक स्वतंत्रता और उसके आधार पर अभीष्ट वरण की पूरी छूट। इसलिए आत्म-चेतना की प्रक्रिया में असंदिग्धता नहीं, स्वतंत्रता है। ज्ञान नहीं, अभीष्ट वरण है।[1] यहां यास्पर्स कीर्केगार्द के प्रसिद्ध कथन को प्रमुखता देते हैं कि "प्रत्येक क्षण, ईश्वर के सामने, पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अपना वरण करो—अपने सर्वोत्तम का वरण करो!" मैक्स वेबर का 'यथार्थ' और कीर्केगार्द की 'संभावना' यास्पर्स के विचारों की कुंजी है। संभावना का यह रूप यास्पर्स में पूरा चक्र पा लेता है। एक ओर वे अतार्किक आस्था को स्वीकार नहीं पाते, दूसरी

1. सिक्स एग्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ० 48

और शून्यवाद को पूरी तरह नकार नहीं पाते। परिणामतः उनकी स्वतंत्रता और वरण-प्रक्रिया अस्थिर उड़ानें भरती रहती हैं। यास्पर्स का कथन है कि अलगाव और शून्य में गिरकर विनष्ट होने की अपेक्षा विवश उड़ानें कहीं बेहतर हैं। बहुत-से आलोचक इसी कारण यास्पर्स को 'बहेतू दार्शनिक' कहते हैं।[1] इस 'उड़ान' को आवश्यक मानते हुए यास्पर्स ने लिखा था—मैं अपने को 'अपने' से तादात्म्य करके ही सोचता हूं। शरीर की आकांक्षाओं, प्रकृति को कठोर वास्तविकताओं, कर्तव्य के उत्तरदायित्वों, अपनी स्थितियों की सीमाओं और वरण किये हुए अभीष्टों का सामना और भोग करते हुए भी मैं उनके अधीन नहीं होता। उनके परिणामों की निर्दिष्टता का अंश नहीं बनता—ये अतिवादी-विरोधी आकर्षण विपरीत दिशा में खींचते हुए मुझे, मेरे 'मैं' को, एक संतुलन और मेरी स्वतंत्रता को पूरी तरह उड़ने की शक्ति देते हैं। मैं यह जानता हूं कि यह उड़ान कभी पूर्ण सफल नहीं होगी। निराशा हाथ लगेगी, किंतु आत्म-साक्षात्कार के प्रयत्न में उत्पन्न निराशा ही मनुष्य को सीमातिक्रमण के योग्य बनाती है। यद्यपि मनुष्य के पास कोई निर्धारित तत्त्व या मूल प्रकृति नहीं है, फिर भी उसकी स्थितियां, सही वरण और स्वतंत्रता, उसे असली अस्तित्व का बोध कराती हैं। अस्तित्व विश्वास और अविश्वास के दो अतिवादी छोरों से बंधा हुआ है। उसमें निश्चितता कहीं भी संभव नहीं है।

"बिना निर्णय के वरण नहीं, बिना इच्छा के निर्णय नहीं, बिना कर्म की इच्छा नहीं, और बिना असली अस्तित्व के कोई कर्म नहीं—यह फार्मूला इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार वरण मेरे भीतर के अपने स्रोतों से एक-एक करके उत्पन्न होता और कैसे मुझे 'मैं' बनाकर पुनः उन्हीं में लीन हो जाता है।"

स्वतंत्रता की चेतना, जो अंतरात्मा को व्यक्तिगत अस्तित्व के स्तर पर जाग्रत् करती है, वह यह बोध भी जगाती है कि यह अस्तित्व एक निश्चित जगत् में अनेक स्थितियों से बंधा हुआ है। जागतिक स्थितियों का मैं साझीदार भले न हो सकूं, जानकार तो होना ही पड़ेगा। इन्हें न चाहते हुए भी मैं बदल नहीं सकता, किंतु मुझे इनके बीच रहने की पद्धति तो सीखनी ही पड़ेगी। इसी संबंध को यास्पर्स ने संपर्क-संचार (कम्यूनिकेशन) कहा है। व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन की कशमकश और घात-प्रतिघात के बीच व्यक्तिगत अस्तित्व की उपलब्धि के लिए एक परोक्ष संपर्क-संचार की पद्धति पर यास्पर्स ने जोर दिया। यह 'तटस्थता' अनेकार्थी और पर्याप्त सर्वालिंगित (आल-कम्प्रीहेंसिव) होती है। "मेरी स्वतंत्रता जब तक यथार्थ से दूर और अपने तई सीमित रहती है, संभावनाओं के क्षेत्र में कहीं टकराहट या संघर्ष नहीं आता, किंतु यह मुझे 'कुछ नहीं' बनाकर

1. एग्जिस्टैंशियलिज्म ऐंड मॉडर्न प्रेडिकामेंट, पृ० 73

छोड़ देती है; दूसरी तरफ जब यह मेरे बाहरी व्यक्तित्व के साथ मिलकर जागनिक परिस्थितियों के बीच एक व्यक्ति बनकर उपस्थित होती है, तब संघर्ष होते हैं, जिन्हें न तो बचाया जा सकता है, न तो मिटाया जा सकता है। यह संघर्ष निराशा को जन्म देता है; और यह निराशा मुझे अंतर्मुखी बनाकर सीमित अस्तित्व में सीमातीत का बोध कराने का कारण बनती है। इस तरह व्यक्ति-जीवन जागतिक परिस्थितियों के बीच दुर्दमनीय सीमाओं, अपराध, कलह, युद्ध और मृत्यु आदि से घिरा है। जगत् से कटने पर भयानक अरक्षण, और उसके भीतर निवार्य सीमाओं से जीवन आक्रांत है। इन वस्तुओं का स्थूल ज्ञान हमें वह कुछ नहीं देगा जो इनका तीखा अनुभव देता है। अनुभव व्यक्तिगत अस्तित्व के लिए यह नयी रोशनी दे जाते हैं कि ये संघर्ष अपरिहार्य थे या ये अंतिम सीमाएं बनकर नहीं, बल्कि अनुभव के नये क्षितिज बनकर उपस्थित हुए थे। संघर्ष की ये स्थितियां अस्तित्व के एक नये फार्मूले को जन्म देती हैं—"मैं इच्छा करता हूं कि हर कोई वह हो सके जो मैं होने के लिए प्रयत्नशील हूं—यानी हर कोई अपने 'अस्तित्व' को मेरे-जैसे ही सही रूप में समुपलब्ध कर सके।" वह संपर्क-भाव सर्वसामान्य या सार्वजनिक अनुभूतियों का साझीदार होना नहीं है, बल्कि प्रत्येक को उसका असली अस्तित्व मिले, इसका आग्रह-मात्र है। संपर्क का अर्थ केवल समान विचारवाले लोगों से स्वतंत्रता और वरण की शर्तों के साथ समसामयिक संपर्क ही नहीं, बल्कि इतिहास के व्यक्ति और उनकी धारणाओं से संपर्क भी समझना चाहिए। अस्तित्ववादी कर्तव्यों में 'संपर्क' न सिर्फ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य भाव है, बल्कि यह सर्वाधिक कठिन और जोखम से भरा व्यापार भी है।

इस प्रकार अस्तित्व, जीवन, जगत् और सत्य की व्याख्या करके यास्पर्स ने अस्तित्ववाद को परिमार्जित किया। "अस्तित्ववादी दर्शन विचार की वह पद्धति है जो समूचे भौतिक ज्ञान के प्रयोग और उसके अतिक्रमण (ट्रांसेंडेंट) का प्रयत्न करती है ताकि मनुष्य पुनः अपनी अपनीयता को पा सके।" यह 'अपनीयता' मौलिक स्वतंत्रता और मनचाहे वरण की सुविधा से ही संभव है।

वरण की स्वतंत्रता के गलत-सही निर्णय का आधार क्या होगा? यास्पर्स के मत से यह आधार हमारे भीतर की विवेक-चेतना है जो व्यक्ति को ईश्वर से उपहार के रूप में मिली है। ईश्वर क्या है? यास्पर्स के अनुसार ईश्वर जगत् से भिन्न कोई अलग सत्ता नहीं है, किंतु जगत् ईश्वर नहीं है। ईश्वर जगत् में व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। ईश्वर का मुख देखने का सारा प्रयत्न न कभी पूर्ण असफल होगा, न कभी सफल। सत्य तो यह है कि उसके मुख पर निरंतर टकटकी बांधकर देखने का प्रयत्न उसके दर्शन से वंचित होना है। यथार्थ और अव्यक्त का यह विचित्र मिश्रण यास्पर्स की उस बौद्धिक स्थिति का द्योतक है जो कीर्केगार्द, मार्क्स

और नीत्शे द्वारा प्रस्तुत वैचारिक वातावरण से पूर्णतः संसिक्त थी। 'दर्शन का विश्व-इतिहास' नामक पुस्तक ईसाई-युग के आधुनिक युग में संक्रमण का विशद विवेचन है। हीगेल के इस सिद्धांत को कि ईसा मसीह का आविर्भाव विश्व-इतिहास की धुरी है, गलत बताते हुए यास्पर्स ने ई० पू० 500 के आसपास प्रथम विश्व-वैचारिक धुरी का उद्‌भव स्वीकार किया और इसका श्रेय चीन, भारत, फिलस्तीन और यूनान को दिया। दूसरी धुरी निकट भविष्य में उपस्थित होगी, यह भविष्यवाणी भी की। इस भविष्यवाणी के लिए उन्होंने तीन आधार माने : 1. समाजवाद, 2. विश्वएकता और 3. आस्था। ये सिद्धांतत्रय यास्पर्स की दृष्टि से इतने स्पष्ट होते जा रहे हैं कि लगता है, अब दूसरी वैचारिक धुरी शीघ्र ही आने वाली है।

1932 में प्रकाशित 'फिलॉसफी' की अनेक मान्यताएं 1945 ई० में प्रकाशित उनके बृहद् ग्रंथ 'फिलॉसफिकल लॉजिक' से बहुत भिन्न प्रतीत होती हैं।" इसका कारण शायद यास्पर्स के जीवन की वह महत्त्वपूर्ण घटना है जिसने उन्हें आठ वर्ष तक अपमान, एकांत और व्यक्तिहंता परिस्थितियों में रहने के लिए विवश किया। यह ग्रंथ एक प्रकार से अस्तित्ववाद का तर्कशास्त्र है।

यास्पर्स का तीसरा वैचारिक मोड़ 'ऐन इंट्रोडक्शन टु फिलॉसफी' (1951) के प्रकाशन के साथ दिखाई पड़ता है। यास्पर्स की मुख्य स्थापनाएं ये थीं कि हमें कभी भी अस्तित्व में जो कुछ सार्वजनिक है, उससे मुख नहीं मोड़ना चाहिए। कभी भी पदार्थ के साथ अपने को संयुक्त नहीं करना चाहिए। अस्तित्व को अप्रतिष्ठित करने वाली कोई वस्तु स्वीकार नहीं करना चाहिए। कभी भी सीमातीत से विमुक्त होने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यास्पर्स एक साथ ही सीमातीत अस्तित्ववाद को यथार्थ के जीवन और उसके असली और नकली रूपों से व्यक्ति-स्वातंत्र्य और उत्तरदायित्वपूर्ण अंतर्वैयक्तिक संबंधों के दार्शनिक हैं, किंतु वे कहीं भी अंतिम निर्णय देने के पक्षपाती नहीं हैं। एच० जे० ब्लाखम के शब्दों में, "यास्पर्स ने नाना प्रकार की विषम परिस्थितियों में, कीर्केगार्द और नीत्शे-जैसे दो प्रबल शिलाखंडों के बीच भले ही अपनी नौका को खेकर सुरक्षित ढंग से किनारे लगा दिया हो, किंतु इस रास्ते को चुनने के कारण अस्तित्ववाद के संस्थापक होने का उनका स्वप्न ही नष्ट हो गया।"[1]

यास्पर्स का मसीहा बनने का स्वप्न रहा हो या न रहा हो, उसके राशिभूत विचारों में वैयक्तिक अस्तित्व और सीमातीत अस्तित्व के बाद में काफी ताजी और मौलिक उद्‌भावनाएं अवश्य थीं। और इनको समेटकर एक बार पुनः अस्तित्ववाद को नया रूप और आकार देने का प्रयत्न किया मार्टिन हेडगर ने।

1. सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ० 63

हेडगर का जन्म 1889 ई० में 'ब्लैक फारेस्ट' क्षेत्र के एक कैथोलिक कृषक परिवार में हुआ। शुरू से ही उनकी दर्शन और नीतिशास्त्र में रुचि थी। 1915 ई० में वे फ्रेबर्ग में दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। यहीं वे सुप्रसिद्ध दार्शनिक हुसर्ल के संपर्क में आये। हेडगर की एक मौलिक चिंतक और कुशल अध्यापक के रूप में ख्याति बढ़ती गयी और 1923 में वे मारबर्ग में दर्शन के प्राध्यापक बने। उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'ऐग्जिस्टेंस ऐंड बीइंग' 1927 ई० में प्रकाशित हुई। 1929 में हुसर्ल के बाद वे फ्रेबर्ग में दर्शन के प्राचार्य हुए। हिटलर के शासनारूढ़ होने पर वे विश्वविद्यालय के रेक्टर बनाये गए जहां उन्होंने अपना वह कुख्यात भाषण दिया जिसमें विद्यार्थियों को नात्सी कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेने के लिए उत्साहित किया गया था। बाद में रिटायर होकर वे ब्लैक फारेस्ट की एक पहाड़ी पर अपने प्रिय कवि 'होल्डरलिन' के संग्रहों के साथ रहने लगे।

हेडगर मुख्यतया मानव-अस्तित्व या जीवन को अपने विवेचन का विषय मानते हैं, यानी व्यक्तिगत अस्तित्व और उसके अनुभव, या नैतिक अभिरुचियों आदि को नहीं, बल्कि संपूर्ण सामान्य मानवता की स्थिति को। सामान्य जीवन की मूल प्रकृति अस्तित्व है। मनुष्य स्वयं में एक संभावना है। मानव-अस्तित्व अनिवार्य है। जीवन का अर्थ है : व्यक्ति-आत्मा का पदार्थ या दूसरे व्यक्तियों के संपर्क से उत्पन्न स्थिति के भीतर अस्तित्व। इसे हेडगर 'जगत् में होना' कहते हैं। "मेरी चिंताएं, मेरे कर्म, रुचियां, सावधानताएं, चर्चा और लगाव सभी मेरे अस्तित्व की पद्धति के उदाहरण हैं। मेरा निकटतम जगत् इन भावों का निर्मित जगत् है, वह नहीं जो पदार्थों के रूप में मेरे निकटतम प्रतीत होता है। मेरा यह 'जगत् में होना' मेरी योजनाओं और साधनों का ही रूपांतर है। कोई व्यक्ति एक-दो चिंताओं से मुक्त हो सकता है, किंतु प्रत्येक चिंतन से मुक्ति संभव नहीं; उसी प्रकार हम समाज में इस या उस व्यक्ति से मुक्त हो सकते हैं, किंतु सामाजिक उत्तरदायित्वों से पूर्णतः मुक्ति कभी संभव नहीं। सामान्य मानवीय अस्तित्व के लिए व्यक्तिगत अस्तित्व की संभावनाओं का बलिदान करना ही पड़ता है।

दैनंदिन अस्तित्व के अनेक रूप हमारे वास्तविक अस्तित्व को ढंकते हैं। उदाहरण के लिए भाषा का मुख्य कार्य सत्य की अभिव्यक्ति है, किंतु दैनंदिन इस्तेमाल की भाषा पदार्थ के प्रति अपना मूल स्पर्श धीरे-धीरे खो देती है और एक दिन पदार्थ के लिए शब्द ही स्थानापन्न हो जाते हैं। इस तरह की भाषा धीरे-धीरे असत्य का प्रसार करती है और अवास्तविक अस्तित्व की स्थापना करती है। एक वस्तु के लिए गलत नाम, एक धारणा के लिए गलत आधार और एक विचार के लिए गलत तर्क प्रचलित हो जाते हैं। इस प्रकार वास्तविक अस्तित्व के सही तत्त्वों से अलग होकर हम अपनी प्रयोजनता और पूर्णता के लिए गलत पदार्थों, मतों या विचारों से टकराते रहते हैं। यही स्थिति है जिसे अलगाव कहा

जाता है।

अपने अवास्तविक अस्तित्व के निर्वैयक्तिक रूपों में अपने निजी अस्तित्व को छिपाने की प्रेरणा 'त्रास' (ड्रेड) से उत्पन्न होती है। त्रास का मुख्य अर्थ वह भय है जो किसी एक स्थान पर पकड़ में न आये, और किसी ऐसी एक वस्तु से भी संबद्ध न हो सके जहां से हमें भय की आशंका हो। भय मुख्यतया 'जगत् में होने' के भाव का पर्याय है। भयभीत होकर हम एकांत में लौटते हैं, और वहां एक क्षण के लिए हमारा असली अस्तित्व हमारे सामने उभरता है। इसलिए यह 'त्रास' ही है जो अस्तित्व को उन्मीलित करता है।

वैयक्तिक अस्तित्व एक आत्मयोजन व्यापार है। यह वह नहीं है 'जो यह है,' बल्कि यह वह है जो होना है, या होगा। यह निर्मित और पूर्ण नहीं है, बल्कि भविष्योन्मुखी है। इसलिए गठन की दृष्टि से 'यह जो है' का विकास है, 'कुछ होने वाला है' की संभावना है; अतः इसका सही रूप त्रास के साथ ही प्रकट होता है जहां व्यक्ति अपने अस्तित्व-निर्माण के उत्तरदायित्व का जोखम स्वयं संभाल लेता है।

चूंकि भविष्योन्मुखी व्यक्तिगत अस्तित्व की कोई अंतिम अवस्था या पूर्णता निश्चित नहीं है, इसलिए यह कभी भी पूर्णतः उपलब्ध (रियलाइज्ड) हो ही नहीं सकता। मृत्यु इसे स्थगित कर देती है, विनष्ट नहीं कर पाती; क्योंकि मृत्यु भी व्यक्तिगत अस्तित्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संभावना ही तो थी, जिसे हम जन्म के साथ ही पालते-पोसते आये हैं।

इसलिए मृत्यु व्यक्तिगत अस्तित्व की कुंजी है, हमारी सबसे बड़ी संभावना। इस मृत्यु की अनिवार्य स्वीकृति व्यक्तिगत अस्तित्व की यथातथ्यता की गारंटी है। क्योंकि मृत्यु हर वस्तु, तत्त्व या धारणा का पूर्ण अवमूल्यन कर देती है। इस मृत्यु के आतंक को समझकर जब असली अस्तित्व को जीने का प्रयत्न होता है तो एक नयी शक्ति, नयी गरिमा और सहनशीलता का उदय होता है। इस असली अस्तित्व के भीतर वरण की छूट अनिवार्य है। अंतःविवेक हमें निरंतर सही और गलत में भेद करने की प्रेरणा देता है। अंतरात्मा की वह आवाज उस निर्वैयक्तिक शासक की आवाज है जिसे पिता, ईश्वर या वैश्वपुरुष कहा जाता है। अंतरात्मा की यह आवाज जो चेतावनी देती है, आगाह करती है, दोषारोपण करती या निर्णय देती है, विराट् त्रास के ही अंतर्गत है। यहां एक शंका उठती है कि जब हम अपनी खुली आंखों अपने सही अस्तित्व को पहचानकर, जो एक नास्तिभाव (नथिंगनेस) से दूसरे नास्तिभाव तक व्याप्त है, उसी के मुताबिक जीते हैं, फिर भी हमारा जीवन दोषपूर्ण कहा जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति जो नकली आवरण-मूलक अस्तित्व जीता है, मानवीय जीवन से मुख मोड़ लेता है, और जो इस सही जीवन को आत्महत्या या शून्यवाद के द्वारा अस्वीकृत करता है, समाज के द्वारा

प्रशंसित होता है। हेडगर का कहना है कि मानवता का सामान्य अंत:विवेक अवास्तविक जीवन की नैतिक धारणाओं से लबालब भरा है, इसलिए इसे वास्तविक निर्देशक बनाने के पहले इसके परिष्कार की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत अस्तित्व, अंत:विवेक चेतना के आवाहनों के प्रति उन्मुख, स्पष्ट-दृष्टि से संयुक्त, निर्णय-पूर्ण वह जीवन है जो मृत्यु के लिए प्रतीक्षावान् है। सक्रिय रूप से वह अपने 'नास्तिभाव' को स्वीकारता है, बिना इस आशा के कि इसे बदला जा सकता है। वह बिना हिचक अपनी सारी संभावनाओं को विश्लेषित करके अपने दैनंदिन जीवन में उनकी पूर्ति का प्रयत्न करता है, वह जानता है कि संभावनाओं का वरण और उनकी सफलता एक सार्वदिक अरक्षित विजय-यात्रा है, कभी भी पूर्ण विजय नहीं। प्रबुद्ध और निर्णीत अस्तित्व हमेशा ही मृत्यु को सामने रखकर, जो उन सभी बहानों और भ्रमों को विदीर्ण कर देती है, जो हमें ध्यान देने योग्य प्रतीत होते हैं, मेरे खुद के भ्रमों को भी विनष्ट करके, अग्रसर होता है। बिना उत्तरदायित्वों से घबराए, हर संभावना को वरण के मानदंड पर नापते हुए, उनकी चरितार्थता के लिए संकल्पित होकर, जो हमेशा ही जीवन में हर क्षण उपस्थित होती रहती हैं, निरंतर अपने वास्तविक अस्तित्व के अन्वेषण का प्रयत्न ही सच्चा अस्तित्ववाद है।

इस विश्लेषण के बीच हेडगर ने उस तत्त्व की प्रतीति की जिसे 'नथिंगनेस', 'नास्तिभाव' या 'नहीत्व' कह सकते हैं। हेडगर का यह 'नहींत्व' चिंता या त्रास की मुख्य उपलब्धि है। यह 'नहीत्व' तर्कशास्त्रियों के नकारवाद से भिन्न है। हेडगर ने इस शब्द को नयी पृष्ठभूमि दी है। उसका कहना है कि आज के युग में मनुष्य 'नहींत्व' के सामने इस तरह खुला है, कि वह उसके किसी भी हिस्से को कभी भी दबोच सकता है। त्रास की अवस्था में, निराशा में जब हम अपने सही अस्तित्व को पूर्णत: उपलब्ध करते हैं, तो वह बोध सामान्य स्थितियों को अतिक्रांत करता है, किंतु ईश्वर की दिशा में नहीं, जैसा यास्पर्स का कहना है, बल्कि 'नहीत्व' या नास्तिभाव की दिशा में। इसी 'नास्तिभाव' को आधार बनाकर हेडगर ने जीवन-मूल्यों का विरोध किया। हेडगर का कहना है कि मूल्ययन मानवीय अभाव का पदार्थीकरण है। यानी मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न सही अस्तित्व को छिपाने का प्रयास है।

हेडगर के 'नास्तिभाव' विषयक इसी चिंतन को आगे चलकर सार्त्र ने अपने दर्शन की आधारशिला बनाया।

इस नास्तिभाव को दृष्टि में रखकर हेडगर ने अस्तित्व की ऐतिहासिक व्याख्याएं भी दीं। ईश्वर मर चुका है, यह सत्य है, पर इससे भी तीखा सत्य यह

है कि उनके स्थान पर अभी कोई दूसरा आसीन नहीं हुआ है। यानी हमारा युग दुहरे 'नास्तिभाव' के बीच से गुजर रहा है। क्योंकि नये ईश्वर का आविर्भाव हमारे प्रयत्न के बाहर है और दूसरा यह कि किसी पुराने ईश्वर की ओर मुड़ना अतीत में जीने का व्यर्थ और निरर्थक प्रयास है। अर्थात् आत्मोपलब्ध अस्तित्व को ऐतिहासिक विकास के हर समय या युग में अपनी पद्धति की खोज स्वयं करनी होगी। इस तरह हेडगर का 'नथिंगनेस' या नास्तिभाव मात्र नास्तिभाव नहीं है, बल्कि यह एक अनुभवगम्य स्थिति है जो प्रत्येक नकारात्मक स्थिति, भाव या पदार्थ की जननी है। त्रास की अवस्था में समझ में आने योग्य यह सारा जगत् जो व्यक्तिगत अस्तित्व से निर्मित था, जहां आदमी सुरक्षित और घरेलूपन का अनुभव करता था, एकाएक 'नहीत्व' में डूब जाता है, और सब-कुछ 'क्या है' के मात्र 'है' भाव में विलीन हो जाता है—वह पोत जिस पर व्यक्ति सवार होकर यात्रा तय कर रहा था, अंतर्धान हो जाता है और पहली बार उसे समुद्र के खारे जल का स्वाद मिलने लगता है। यह क्रूर अस्तित्व का नग्नरूप है। 'नहीत्व' 'होने' को समाप्त नहीं करता बल्कि उसकी वास्तविकता को नये रूपों में प्रश्नित करता है।

मानव अस्तित्व की समग्र व्याख्या करने की तड़प : मार्सल

यास्पर्स ने कहा—"पूर्ण जागरूक आत्मचेतना मेरी निजी ऐकांतिकता और स्वतंत्रता ही है। मेरे लिए वास्तविक अस्तित्व का अर्थ है : मेरी अपनी मौलिक स्वतंत्रता और उसके आधार पर अभीष्ट वरण की पूरी छूट।" यास्पर्स की इन्हीं मौलिक उद्भावनाओं को समेटकर एक बार पुन: अस्तित्ववाद को नया रूप और आकार देने का प्रयत्न किया मार्टिन हेडगर ने। हेडगर ने नास्तिभाव को आधार बनाकर कहा कि "मेरा नास्तिभाव मात्र नास्तिभाव नहीं है, बल्कि वह एक अनभव्नगम्य स्थिति है जो प्रत्येक नकारात्मक स्थिति, भाव या पदार्थ की जननी है। 'नहोना' 'होने' को समाप्त नहीं करता बल्कि उसकी वास्तविकता को नये रूपों में प्रश्नित करता है!" तो क्या सचमुच मृत्यु, त्रास और सब के ऊपर नास्तिभाव ही हमारे अस्तित्व की एकमात्र नियति है? इस प्रश्न का उत्तर दिया गैब्रील मार्सल ने…

तो क्या सचमुच मृत्यु, त्रास, और सबके ऊपर 'नास्तिभाव' ही हमारे अस्तित्व की एकमात्र नियति है? क्या सचमुच व्यक्ति-अस्तित्व भी विषय और विषयी के दो खंडों में अनमिल रूप में बंटा हुआ है? और क्या जगत् विरोधी तत्त्वों से निर्मित एक ऐसा भयानक दैत्य है कि वह हमारे अस्तित्व को लील जायेगा और इसलिए हमें निरंतर इससे दूर भागने की कोशिश करनी ही चाहिए? टूटे हुए अस्तित्व के खंडों और टुकड़ों से भी क्या हमें ऐसी घृणा है कि उनके पास जाना, उन्हें अफसोस के साथ एक बार देख लेना, हमें गवारा नहीं?

ये थे वे प्रश्न, जिनका उत्तर दिया गैब्रील मार्सल ने। मार्सल का जन्म भी उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष हेडगर का, किंतु जीवन के विषय में उनकी दृष्टि किसी भी अस्तित्ववादी से प्रभावित न थी। जब वे सिर्फ चार साल के शिशु थे, तभी मां का देहांत हो गया। किंतु मरकर भी मां उनके अस्तित्व से अलग न हुई, बल्कि उनकी सीमातीत प्रकाशमयी आत्मा निरंतर मार्सल के जीवन पर छायी रही। उनके पिता, जो पहले स्टाकहोम में फ्रांस के राजदूत थे, बाद में किसी-न-किसी राष्ट्रीय संग्रहालय के संचालक रहे। पालन-पोषण किसी मौसी ने, जिन्होंने बाद में प्रोटेस्टैंट मत स्वीकार कर लिया। पिता कट्टर कैथोलिक थे। रहस्यमयी मां की आच्छादक आत्मा, कैथोलिक पिता और प्रोटेस्टैंट विमाता (मौसी) के बीच मार्सल का जीवन संघर्ष और चिंताओं की एक अजीब कहानी बन गया। एकाकी पुत्र होने का भी उन्हें भरपूर दंड मिला। अतिरिक्त लाड़-प्यार, कठोर संयमन, तथा स्कूल की निर्वैयक्तिक, अमानवीय और उलझी शिक्षा-पद्धति ने उन्हें काफी परेशान किया। बचपन से ही उन्हें विभिन्न स्थानों की यात्रा का अवसर मिला। प्रथम विश्वयुद्ध में शारीरिक अयोग्यता के कारण सक्रिय सेवा से वंचित रहे, और उन्हें रेडक्रॉस में लापता लोगों को ढूंढ़ने का कार्य मिला, जिसने उन्हें 'अन्य पुरुष' और 'मध्यम पुरुष' के महत्त्वपूर्ण दर्शन का आधार प्रदान किया। मार्सल एक विशिष्ट नाटककार भी हैं और उन्होंने पंद्रह से अधिक नाट्यकृतियां लिखी हैं। संगीत में भी उनकी दिलचस्पी विस्मयकारक है। इसे वे अपनी जिंदगी का एकमात्र पेशा मानते हैं, जहां उनकी प्रतिभा सृजन करती है।

मार्सल आरंभ में आदर्शवाद से बुरी तरह प्रभावित थे। अपने चिंतन के दौरान वे आदर्शवाद के चंगुल से कैसे छूटे, इसका अनेकशः वर्णन उनकी डायरियों में दिखायी पड़ता है। उन्होंने दर्शन की कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी। उनका 'जर्नल मेटाफिजीक' 1913 से 1923 ई० तक के चिंतन का परिणाम है। इसके अलावा अंग्रेजी में अनूदित उनकी दो अन्य पुस्तकें काफी प्रसिद्ध हैं—'द फिलॉसफी ऑफ एक्जिस्टेंस' (1947) तथा 'द इंफ्ल्युएंस ऑफ साइकिक फिनामना ऑन माई फिलॉसफी' (1956 ई०)। उनके अनेक नाटक भी अंग्रेजी में उपलब्ध हैं। मार्सल के पूरे दार्शनिक व्यक्तित्व को समझने के लिए नाटकों और डायरियों का एकत्र अध्ययन परमावश्यक है।

दूसरे अस्तित्ववादी चिंतकों की तरह मार्सल भी यह मानते हैं कि आधुनिक मनुष्य और उसके जीवन या जगत् के बीच एक अजीब तरह का संबंध-विच्छेद या अलगाव पैदा हो गया है। जीवन का अत्यधिक समाजीकरण, शासन की बढ़ती हुई सत्ता, मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर निरंतर आक्रमण कर रही हैं। और ये

मनुष्य के उस भाईचारे और एकता को विनष्ट कर रही हैं जो सृजन, कल्पना और चिंतन की उर्वर भूमि है। मनुष्य एक कार्यभारी एजेंट हो गया है, गणित के अंकों की तरह जीवन-शून्य, जो स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छा के मुताबिक कुछ भी नहीं कर सकता।

इस स्थिति का समाधान क्या है? स्थिति का सही विश्लेषण! मार्सेल यह मानते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति मनुष्य-अस्तित्व की समग्र व्याख्या नहीं कर सकती। वैज्ञानिक तथ्यतावाद को दर्शन का उद्देश्य मानना अंधविश्वास है।

मार्सेल के मत से मानव-अस्तित्व में विषयी (सब्जेक्ट) का ज्ञान प्रयत्नज व्यापार है। यानी विषयी बनना कोई तय बात नहीं, बल्कि परावर्तित गति का कार्य है। याद रखना चाहिए कि यह मत अस्तित्ववाद की उस चिंतना के विरुद्ध है जो अपनी अंतरात्मा या 'सब्जेक्ट' को 'ऑब्जेक्ट' या पदार्थ (अपने शरीर तक को) से बिलकुल भिन्न मानती है। मार्सेल का कहना है कि अस्तित्व मनुष्य ही है —शरीर और अंतरात्मा-(सब्जेक्ट) संयुक्त मनुष्य। इसलिए शरीर से अपने को अलग मानकर देखना अलगाव को और विस्तृत करना है। यहां मार्सेल यास्पर्स की तरह तटस्थ या स्थितिप्रज्ञ बनने के पक्ष में नहीं हैं, उनका तो आंदोलन है— **"शरीर और अस्तित्व के खंडित संबंधों की ओर लौट चलो!"**[1]

मनुष्य की मूल प्रकृति परिस्थितियों में उसका होना है। परिस्थितियों से अलगाव नहीं। मेरे अस्तित्व का पहला बोध यह नहीं है कि मेरा ज्ञाता 'मैं' ज्ञेय शरीर से भिन्न है, क्योंकि मेरे शरीर का जगत् में अस्तित्व ही मुझे 'मैं' या ज्ञाता बनाता है। मेरे शरीर का जगत् की परिस्थितियों में होना और जगत् में व्याप्त वैश्विक अस्तित्व के बारे में एक उलझी हुई अनुभूत चेतना उस बोध के पहले वर्तमान रहती है, जिसे 'मैं' का बोध कहा जाता है। आरंभिक अनुभूत चेतना गलत या भ्रांत होती है, आवश्यकता है उस चेतना द्वारा अनुभूत वस्तुओं पर पुनःपरावर्तित चिंतन (सेकेंड-रिफ्लेक्शन) की। दर्शन का मुख्य कार्य प्रथम चिंतन से उत्पन्न भ्रांतियों का निराकरण है। शरीर और आत्मा (ऑब्जेक्ट + सब्जेक्ट) को अलग-अलग करके सोचना प्रथम चिंतन में संभव नहीं। मैं क्या हूं? मैं इस प्रकार रह सकता हूं कि मैं अपने शरीर का होकर रहूं, इसके साथ तदात्म, या मैं अपने शरीर को अपने से अलग एक यंत्र मानूं। मैं 'आत्महत्या' के द्वारा शरीर को अपने से अलग करने की स्वतंत्रता तो रखता हूं, किंतु क्या यह प्रक्रिया उस उद्देश्य को ही

1. 'द फिलॉसफी ऑफ एक्जिस्टेंस', अनु० : मान्या हरारी, लंदन (1948)। इस पुस्तक में मार्सेल की संक्षिप्त जीवनी भी है।

झुठला नहीं देती जो शरीर को सभी प्रकार के आवाहनों के उत्तर के लिए प्रदान किया गया था ? इसलिए मेरा अस्तित्व (शरीर का जागतिक स्थितियों में होना के रूप में) कभी भी मेरे लिए समस्या या प्रश्न नहीं बन सकता, क्योंकि इससे परे मेरा कोई अस्तित्व है ही नहीं। यह सही है कि ऐसी स्थिति के सभी अनुभव, जो प्रथम चिंतन में मुझे मिलेंगे, सही नहीं होंगे, किंतु इन्हें ठीक-गलत समझने के लिए दूसरा परावर्तित चिंतन उपलब्ध होता है, जहां मैं ज्ञाता (सब्जेक्ट) बनने की स्थिति में होता हूं। इसलिए अस्तित्व का अनुभव एक समस्या नहीं, रहस्य है। रहस्य का अर्थ उपलब्ध ज्ञान से सीमातीत होना नहीं है। उदाहरण के लिए पाप को लीजिए। यदि पाप का पूरा समाधान या बोध हो जाये, तो न कहीं पाप है न समस्या; किंतु पाप को पाप मानने का दृष्टिकोण क्या व्यक्तिगत नहीं होता ? चूंकि मैं इस स्थिति में फंसता हूं, इसलिए यह मुझे हमेशा स्पर्श करता है। इसका कारण पाकर भी, या आदर्श जगत् की कल्पना करके भी, क्या मैं इससे मुक्त हो जाऊंगा ? असल में यह सारी समस्या 'मैं क्या हूं' और क्या 'रखता हूं' की समस्या है। इसकी विकटतम स्थिति आत्महत्या है। मैं चाहूं तो शरीर को खत्म कर दूं; चाहूं तो रखूं। खत्म करने और रखनेवाला यह 'मैं' क्या है ? इसकी एक परिभाषा है : स्वतंत्रता। यही स्वतंत्रता पदार्थ और 'मैं' के बीच संबंध का सूत्र है। कुछ मैं हूं, कुछ मैं रखता हूं। मुझे 'रखे' हुए पदार्थों को ही खत्म करने का अधिकार है। पदार्थ 'मैं' को और 'मैं'-रक्षित (रखे हुए) पदार्थ को हमेशा आक्रांत करता है। 'रखना' क्रिया शायद ही कभी कर्मवाच्य में प्रयुक्त होती है; किंतु जब होती है तब उसका अर्थ विशिष्ट होता है। जब पदार्थ ही 'मैं' को रखने लगे, यानी मैं पदार्थ द्वारा ही रखा जाने लगूं, तो क्रिया कर्मवाच्य में प्रयुक्त होगी। सामान्य सामान को मैं रखता हूं। किंतु एक संगीतकार वीणा रखता है। यहां मैं का 'होना' 'रखना' में नहीं बदला, बल्कि 'रखना' ज्यादा सूक्ष्म और रचनात्मक होने से 'मैं के होने' का अंश बन गया। 'रखना' को समूल नष्ट करने का प्रयत्न हमेशा असफल होगा, जैसा साम्यवाद, आदर्शवाद या नीतिशास्त्र में होता है। प्रश्न 'होना' और 'रखना' के समन्वय का है। यह समन्वय हमेशा ही उदारता और रचनात्मक कर्म में संभव होता है।

किसी तत्त्व में आसक्ति अस्तित्व की संस्तुति है, प्रामाणिकता की गारंटी है। परावर्तित चिंतन में, आसक्ति का बोध और विश्लेषण, अस्तित्व का सही विश्लेषण है। मैं जगत् में रहता हूं, दूसरों के काम आता हूं, और दूसरे मेरे काम आते हैं। जब मैं दूसरों के अस्तित्व को पहचानकर उसके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करता हूं, तो मैं प्रकारांतर से अपने अस्तित्व को ही प्रमाणित करता हूं। केवल मनुष्य ही वह प्राणी है जो वचनबद्ध होता है। समर्थ न होते हुए भी जब मैं किसी को वचन देता हूं, जैसा अक्सर होता है, तो या तो मैं यह जानते हुए कि अभी इसे कर न

पाऊंगा, सिर्फ उस व्यक्ति के प्रति अपने लगाव या आसक्ति के कारण ऐसा कह देता हूं, या मुझे विश्वास होता है कि भविष्य में ऐसा कर सकूंगा। ये दोनों ही झूठ या अंधविश्वास हैं, किंतु यह मनुष्य-अस्तित्व का रहस्य है। पहले झूठ में वह अपनी प्रतिष्ठा पाता है, दूसरे में महत्त्व को समझने की भावना सीखता है और दूसरे में भविष्य के प्रति अटूट आस्था। आसक्ति इसी कारण मुझे एक नया जीवन और शक्ति देती है, तथा अपने से भिन्न अस्तित्वों के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण बनाती है। यह जीवन को शाश्वतता देती है। प्रेम में एक व्यक्ति की दूसरे के प्रति आसक्ति एक-दूसरे की उपस्थिति के आनंद का उपभोग है। इसे मृत्यु भी नहीं छीन पाती, क्योंकि प्रेम की तीव्रता में दूसरा व्यक्ति मेरे लिए पदार्थ नहीं रह जाता, बल्कि मेरे सक्रिय 'मैं' का अंग बन जाता है। यानी मेरा 'रखना' मेरा 'होना' हो जाता है। अपने प्रेमी की मृत्यु पर जो यह कहते हैं कि अब वह नहीं रहा, असल में वे स्वयं अपने को नकारते हैं; क्योंकि आसक्ति दो अपरिचित व्यक्तियों को 'आप' से 'तुम' में (निकटता) बदलती है, फिर 'तुम' 'हम' (निकटतम) हो जाता है। यही प्रक्रिया ईश्वर के प्रति शुद्ध आसक्ति में भी निहित है। आरंभ में ईश्वर वैश्विक 'आप' या 'तुम' है, फिर मेरे अस्तित्व का जीवित भाग बनकर 'हम' हो जाता है।

सारांश यह कि व्यक्तिगत अस्तित्व अनुभव किया जा सकता है, संकेतित और प्रमाणित किया जा सकता है, किंतु उसे पदार्थ की तरह रखा नहीं जा सकता। मेरा अस्तित्व मेरी स्वतंत्रता है, अपनी मर्जी से रखने या अलग करने की स्वतंत्रता, जिंदगी की हर स्थिति में 'ना' या 'हां' की स्वतंत्रता—किंतु अपने स्वभाव से ही यह स्वतंत्रता संदेह और वंचना से जुड़ी है। यह समस्यात्मक नहीं, रहस्यात्मक है। यह स्वतंत्रता मेरी यथार्थता है, किंतु यह अस्वीकृत, उपेक्षित या प्रवंचित हो सकती है। सीमातीत 'मैं' की स्थिति सही विश्लेषण के बाद उत्पन्न होती है, किंतु सीमातीत में (वैश्विक में) सीमातीत 'तुम' के बिना संभव नहीं। यह संपर्क एक-दूसरे के विकास का कारण होता है। आसक्ति का शुद्धतम रूप, शक्तिशाली प्रक्रिया और शाश्वत उपस्थिति के रूप में सीमातीत स्तर ही पर प्रकट होता है और यही महान् अस्तित्व का सबसे बड़ा मूल्य है। यह सीमातीत स्थिति वैश्विक 'तुम' यानी ईश्वर के सान्निध्य में ही संभव है। व्यक्तिगत अस्तित्व के भीतर व्यक्ति सीमातीत 'मैं' का बोध करता है। सीमातीत 'तुम' और व्यक्तिगत 'तुम' के बीच जो संबंध स्थापित होता है, वही आस्था है। हर विश्वासी इसका साक्षी है और हर अविश्वासी दूसरों में विश्वास करके इसे सीख जाता है। मार्सल पूर्णतः प्रवृत्तिमार्गी, आशावादी, आस्थावान् अस्तित्ववादी हैं।

यास्पर्स, हेडगर और मार्सल ने व्यक्तिगत अस्तित्व को विविध पहलुओं से देखने का प्रयत्न किया। सबने हीगल के सूक्ष्म वायवी दर्शन तथा निर्दिष्टतावादी

आधुनिक संकट का व्याख्याता : सार्त्र

नोबेल-पुरस्कार पर अपनी अस्वीकृति का स्पष्टीकरण करते हुए सार्त्र ने एक स्वीडिश पत्रकार के संग आयोजित अपनी अंतर्वार्ता में कहा था, "मेरा यह निर्णय लेखक के उत्तरदायित्व के विषय में मेरी मूलभूत धारणाओं पर आधारित है। एक लेखक, जो राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक, किसी भी क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है, उसे हमेशा ही सिर्फ अपने निजी माध्यम यानी लेखन के माध्यम द्वारा ही सामने आना चाहिए। बाकी दूसरे तमाम आदर या सम्मान, जो उसे दिये जाते हैं, पाठकों के सामने इस बात का प्रमाण होते हैं कि वह बाहरी दबावों से प्रभावित हो सकता है। मेरी अस्वीकृति का अर्थ स्वीडिश अकादेमी के प्रति या नोबेल-पुरस्कार के प्रति किसी भी प्रकार का अनादर नहीं समझना चाहिए। इसके पीछे वैयक्तिक नहीं, मेरी मान्यताओं से संबद्ध वस्तुपरक कारण रहे हैं। आज के युग में सांस्कृतिक मोर्चे पर यदि कोई संघर्ष हो सकता है, तो उसका एकमात्र उद्देश्य पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के बीच सहअस्तित्व की स्थापना ही है। मैं इन दोनों संस्कृतियों के विरोधाभासों को अपने व्यक्तिगत स्तर पर बड़ी गहराई से अनुभव करता रहा हूं। मेरी सहानुभूति निस्संदेह समाजवाद और पूर्वीय संस्कृति के प्रति है, किंतु मेरा पालन-पोषण ऐसे लोगों के बीच हुआ है, जो दोनों संस्कृतियों को निकटतर ले आना चाहते हैं।"

"हम कभी भी उतना अधिक स्वतंत्र नहीं थे, जितना जर्मन आधिपत्य के दिनों में। हम अपना सभी अधिकार, यहां तक कि बोलने का अधिकार भी, खो चुके

थे। प्रतिदिन खुली आंखों अपना अपमान देखते और इसे मौन रहकर सहना पड़ता। एक-न-एक बहाने से श्रमिक, यहूदी, या राजनीतिक बंदी के रूप में झुंड-के-झुंड लोग देश से बाहर निकाले जाते। सब-कहीं, अखबारों में, सिनेमा में, सूचना-पटों पर हम अपनी वह निराश और निर्जीव शक्ल देखते, जो हमारे विजेता दिखाना चाहते। और इसी सब-कुछ के चलते हम स्वतंत्र थे। चूंकि नाजी जहर हमारे विचारों में पूरी तरह जज्ब हो रहा था, इसलिए हर सही विचार एक विजय था; चूंकि सर्वशक्तिशाली पुलिस हमारी जबान बंद करने की कोशिश में थी, इसलिए हर शब्द सिद्धांत की घोषणा थी। चूंकि पुलिस निरंतर हमारे पीछे पड़ी थी, इसलिए हर मुद्रा एक शांत संकल्प या प्रतिश्रुति थी। चूंकि परिस्थितियां हमेशा ही अत्याचारों से भरी थीं, इसलिए उन्होंने हमें एक सरगर्म और असंभव अस्तित्व के, जो मनुष्य की नियति थी, जीने के योग्य बनाया। देश-निकाला, कैद, और खासतौर से मौत (जिन्हें हम खुशी के दिनों में भोगने से कतराते हैं), हमारे लिए आदत की चीजें बन गयीं। हमने जाना कि ये चीजें न तो अपरिहार्य घटनाएं हैं, न तो स्थिर और शाश्वत खतरे, फिर भी ये हमारी नियति हैं, मनुष्य के रूप में हमारे लिए यथार्थ जिंदगी के स्रोत। हर क्षण हम इस सामान्य कथन के पूर्ण अर्थ के साथ जीते रहे कि 'मनुष्य नाशवान् है।' और हममें से प्रत्येक ने जिंदगी का जो चुनाव किया वह एक सही चुनाव था, क्योंकि वह मौत के आमने-सामने खड़े होकर किया गया। उसे सिर्फ इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया जा सकता था 'चाहे मौत, किंतु···'। और मैं यह सिर्फ उन बौद्धिकों के बारे में नहीं कह रहा, जो प्रतिरोध आंदोलन में शामिल थे, बल्कि उस तमाम फ्रांसीसी जनता के बारे में भी, जो चार वर्षों तक रात-दिन कभी भी, किसी क्षण सिर्फ 'नहीं' कहने के लिए तैयार रही। उस अत्याचार ने हमें उस हालत में पहुंचा दिया, जहां, सिर्फ जहां ही ऐसे सवाल पूछे जा सकते थे, जैसे इंसान कभी भी शांति के दिनों में नहीं पूछता। हममें से सभी, जो प्रतिरोध आंदोलन के बारे में थोड़ा-बहुत भी जानते थे, अपने से ही पूछते थे, 'यदि उन्होंने बेइंतहा सताना शुरू किया तो क्या मैं खामोश रहने में कामयाब हो सकूंगा?'

"इस तरह स्वतंत्रता का मौलिक प्रश्न उपस्थित हुआ और हम उस वेदी पर खड़े हो गये, जहां उस गंभीरतम ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो एक मनुष्य खुद अपने से ही पा सकता है। क्योंकि मनुष्य जीवन के रहस्य उसका 'ईडिपस कॉम्प्लेक्स' या हीनता-ग्रंथि नहीं है, बल्कि यह उसकी निजी स्वतंत्रता की तथा मौत और अत्याचारों को सहने की शक्ति की सीमा है।"

"फरार रहकर छिपे तौर से प्रतिरोध आंदोलन का कार्य करनेवालों के लिए यह लड़ाई भिन्न किस्म की थी। वे खुले में सैनिक की तरह नहीं लड़ते थे, अकेले, उत्साहपूर्ण मित्रता के एक शब्द के बिना भी, फिर भी हृदय की अन्यतम ऐकांति-

कता में, वे दूसरे ही थे, जिनकी वे रक्षा कर रहे थे, वे साथी जो उनके साथ प्रतिरोध आंदोलन में काम कर रहे थे। पूर्ण ऐकांतिकता में पूर्ण उत्तरदायित्व—क्या यही स्वतंत्रता की भी परिभाषा नहीं है ?"

('रिपब्लिक आफ साइलेंस' से उद्धृत और अनूदित)

ये पंक्तियां 'प्रतिरोध आंदोलन' में सक्रिय भाग लेनेवाले, प्रसिद्ध विचारक और लेखक जां पाल सार्त्र की हैं जिनकी कृतियों में युद्धोत्तर यूरोप का जीवन जिस गहराई के साथ चित्रित हुआ, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सार्त्र बीसवीं सदी के निकटतम पूर्वार्द्ध और सामयिक उत्तरार्द्ध का सर्वाधिक चर्चित और विवादपूर्ण लेखक है, इसमें शक नहीं।

सार्त्र का जन्म 21 जून, 1905 को पेरिस में हुआ। प्रोटेस्टैंट मत और रोमन कैथोलिक विचारों का अजीब मिश्रण उन्हें पारिवारिक परंपरा से दायरूप में मिला। पिता, एकोले पॉलीटेकनीक के एक ग्रेजुएट और नौ-सेना में इंजीनियर थे, जिनकी कोचीन (चीन) में ज्वर से मृत्यु हुई। माता-पिता की छाया से बचपन में ही वंचित हो जाने के कारण उन्हें नाना के परिवार में 'ला रोशेल' में रहना पड़ा।

उनकी शिक्षा प्रथम युद्ध के बाद हुई, जिस समय यूरोप में मूल्यों के विनिपात का वातावरण व्याप्त था। वे एकोल नारमाल सुपेरियर में विद्याध्ययन करते थे। स्नातक (एग्रिगेशन) परीक्षा में प्रथम वर्ष अनुत्तीर्ण हुए, किंतु दूसरे वर्ष उत्तीर्ण विद्यार्थियों में उन्हें प्रथम स्थान मिला और उनकी घनिष्ठ मित्र सिमोन द बोउवा को द्वितीय। दर्शन के शोध-छात्र के रूप में वे जर्मनी गये और हुर्सेल के व्याख्यानों को सुनने का अवसर मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ में वे लेआवर, लीसे में दर्शन के प्राध्यापक थे। लेआवर प्रसिद्ध फ्रांसीसी बंदरगाह है, जो उनके उपन्यास 'नॉसिया' में बूविले के नाम से वर्णित हुआ है। 'नोसिया' 1938 ई० में छपा और दूसरे वर्ष 'द इमोशंस' का प्रकाशन हुआ। इन दोनों कृतियों ने नये लेखक की ओर काफी ध्यान आकृष्ट कराया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ होने पर उन्हें सक्रिय सैनिक सेवा के लिए बुलाया गया, किंतु कमजोर शरीर के कारण रेडक्रास में कार्य मिला। (ऐसी ही घटना नीत्शे के जीवन में भी घटी थी, जिन्हें फ्रैंको-जर्मन युद्ध में (1870-1871) ऐसा ही काम मिला था। फ्रांसीसी सेना के आत्म-समर्पण करने पर सार्त्र भी बंदी हुए और उन्हें 1941 में छोड़ दिया गया। एकोल नारमाल सुपेरियर में वे अध्यापन करने लगे। चार्ल्स डलां के 'स्कूल ऑफ ड्रैमेटिक आर्ट' में भी अध्यापन किया और इसी समय उनका प्रसिद्ध दर्शन-ग्रंथ 'बीइंग ऐंड नथिंगनेस' प्रकाशित हुआ। उनके

दो नाटक 'द फ्लाइज' और 'नो ऐक्जिट' इसी समय पेरिस रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये। दूसरे नाटक में गर्से का पार्ट उनके मित्र अलबेयर कामू ने किया। बाद में सैद्धांतिक मतभेदों के कारण कामू और सार्त्र का संबंध-विच्छेद हो गया।

'द रिप्राइव' 1945 में छपा तथा 'एक्जिस्टेंशियलिज्म ऐंड ह्यूमनिज्म' 1946 में। 'व्हाट इज लिटरेचर' तथा 'डर्टी हैंड्स' 1948 में। इनके अलावा भी सार्त्र की अनेक कहानियां, नाटक, निबंध प्रकाशित हैं। 'रिपब्लिक ऑफ साइलेंस' इटरनेलेरिव्यू में 1945 में छपी थी, अंग्रेजी-अनुवाद बाद में 1947 में छपा। अनेक निबंधों के अंग्रेजी अनुवाद 'सिचुएशंस' के तीन भागों में संकलित हैं।

विद्यार्थी-जीवन में सार्त्र की दिनचर्या और व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया पर सिमोन द बोउवा की पुस्तक 'मेमॉयर्स ऑफ ए ड्यूटीफुल डॉटर' ने अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सार्त्र, नीजां और एरबो का त्रिगुट एकोल नारमाल सुपेरियर में कैसा बदनाम था, इसका विवरण देते हुए बोउवा ने लिखा है—"ये अपने सहपाठियों के प्रति असहिष्णु थे—अभद्रता के लिए प्रसिद्ध। घर लौटते पढ़ाकू विद्यार्थियों पर पानी-बम फेंकना इनका काम था। सार्त्र देखने में बुरा तो नहीं था, परंतु यह अफवाह थी कि वह पूरे गुट में सबसे निकृष्टतम है।" बोउवा की घनिष्ठता एरबो से बढ़ती गयी। और एक दिन एरबो ने अपनी, सार्त्र और नीजां की विशेषता बताते हुए कहा—"हम हमेशा प्रत्येक चीज के पीछे उसका कारण जानना ही चाहते हैं, खासतौर से सार्त्र।" एरबो ने प्रशंसा और आदर के साथ कहा—"सार्त्र हर समय सोचता रहता है, सिर्फ सोने के समय को छोड़कर।" परिस्थितियों के कारण एरबो को पेरिस छोड़कर जाना पड़ा और उसकी विदाई से दुखी बोउवा से सार्त्र ने कहा—"आज से तुम मेरे साथ रहोगी!" सार्त्र कॉफे-हाउस में बैठकर या फाल्स्टाक में कॉकटेल पीते घंटों बात किया करते। गमगीनी, जंभाई या निद्रा, पलायनवाद, बौद्धिक चालें, समझौते, व्यावहारिकता और सम्मान-भाव आदि से सार्त्र पूर्ण अपरिचित लगते। वे हर चीज में रुचि लेते और किसी चीज को यों ही स्वीकार नहीं कर लेते। किसी चीज पर नजर पड़ जाये तो सार्त्र किसी दृष्टांत, शब्द या प्रभाव या बनी-बनायी धारणा के द्वारा उसे व्यक्त करने की जगह उसे एकटक तब तक देखते रहेंगे, जब तक वे उसे भीतर-बाहर से अच्छी तरह जान नहीं लेते और उसकी सारी विशेषताएं जज्ब नहीं कर लेते।

लेखिका बनने की इच्छुक और कृतसंकल्प सिमोन को, जो अपने कार्यक्रम और लेखन के विषय में इतनी भरी-भरी और उत्साहित रहती, यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता कि सार्त्र किस तरह अपनी कृतियों के विषय में शांत किंतु उन्मादक अनुराग से भरे रहते हैं। "बहुत पहले मैं उन बच्चों से नफरत करती थी, जो खेल या काम में मुझसे कम उत्साहित लगते थे, और आज मेरे सामने ऐसा व्यक्ति था,

जिसकी आंखों में मेरा उन्मत्त संकल्प दुर्बल और निरीह-सा लगता था।" सार्त्र पेशेवर साहित्यकार का जीवन बिताना नहीं चाहते थे। उन्हें साहित्यिक औपचारिकता, मठाधीशवाद, साहित्यिक आंदोलनों तथा साहित्यिक जीवन के अधिकार, कर्तव्य और दिखावटी आडंबर से सख्त घृणा थी। बोउवा के मत से, "**सार्त्र साहित्य या कला को स्वयं में एक महान् साध्य मानते थे, और यद्यपि उन्होंने ऐसा कभी कहा नहीं, किंतु जहां तक मैं जानती हूं, वे विश्वास जरूर करते हैं कि यह सारी सृष्टि का भी 'सब कुछ' और सर्वसाध्य है।**" कुल तेईस वर्ष के सार्त्र, युग की सारी रोमानियत के साथ वह ख्वाब देखा करते कि वे एक दिन कुस्तुनुनिया जायेंगे। वे बंदरगाह में काम करने वाले मजदूरों से दोस्ती करेंगे और अत्याचार और अन्याय के गड्ढों में बैठकर लोगों को गुलाम बनानेवाले गोरे साहबों और विदूषकों के साथ शराब पीकर धुत पड़े रहेंगे। वे सारी दुनिया का चक्कर काटेंगे और न तो भारत के अछूत, न माउंट अथॉस के साधु और न तो न्यूफाउंडलैंड के मछुए उनसे अपना कोई रहस्य छिपा पायेंगे। वे कहीं बसेंगे नहीं, किसी संपत्ति-जायदाद का झंझट न रखेंगे, इसलिए नहीं कि ये चीजें उनकी यात्रा में बाधक होंगी, बल्कि इसलिए कि वे दिखा सकें कि ये चीजें कितनी अनावश्यक हैं।

बोउवा की दृष्टि से सार्त्र अपने व्यक्ति से अधिक महत्त्व उन सत्यों को देना चाहते थे जो उनके माध्यम से अभिव्यक्ति पा सकते हैं। वे हर चीज पर अपने निजी ढंग से सोचते, यहां तक कि कक्षा के व्याख्यानों को भी वे अपनी 'नोट-बुक' में ऐसी वैचारिक पद्धति से रखते कि उनकी मौलिकता और सुसंबद्धता उनके मित्रों को आश्चर्यचकित कर देती। 'ले नुवेल लीतरेरे' की ओर से एक बार विश्वविद्यालयीय छात्रों की मनोवृत्ति का परीक्षण किया गया। सार्त्र के उत्तरों को रोलां एलिक्स ने एक नोट लगाकर विस्तार से प्रकाशित कराया। सार्त्र ने लिखा था—"**यह मनुष्य बुद्धि का विरोधाभास है, कि वह जो दूसरों के लिए आवश्यक अवसर और परिस्थितियां पैदा करना चाहता है, खुद अस्तित्व के एक मामूली स्तर से ऊंचा नहीं उठ सकता। वह उन भविष्यवक्ताओं की तरह है, जो दूसरों का भविष्य तो बता सकते हैं, किंतु अपना नहीं जानते। इसी कारण, मुझे सारी मानवता के मूल में, प्रकृति के मूल की तरह ही, केवल उदासी और 'बोरडम' के और कुछ नजर नहीं आता। ऐसा नहीं है कि मनुष्य अपने को एक भविता (बीइंग) के रूप में सोचता नहीं, बल्कि इसके प्रतिकूल एक भविता बनने के लिए वह अपना सब-कुछ लगा देता है। हमारी पाप-पुण्य की धारणाएं कहां से आती हैं, धारणाएं कि एक आदमी दूसरे का सुधार करे। ये धारणाएं व्यर्थ हैं। यह निर्दिष्टतावाद भी व्यर्थ है जो अजीब ढंग से अस्तित्व और भविता को मिलाने का प्रयत्न करता है। हम उतना**

स्वतंत्र हैं, जितना आप पसंद करते हैं, किंतु निरीह और असहाय ! जहां तक दूसरी बातों का संबंध है, शक्ति की अभीप्सा, गति और जीवन आदि, ये सब निरर्थक बकवास हैं। 'शक्ति की अभीप्सा' जैसी कोई चीज नहीं होती। हर चीज अति दुर्बल है। सभी चीजें अपने भीतर के मौत के बीज ढोती रहती है। और फिर साहसपूर्ण कार्य···?···मेरा मतलब है आविष्कारों में अंधविश्वास और फिर अपरिहार्य श्रृंखला···यह सब भ्रम है। एक अर्थ में साहसपूर्ण कार्यकर्ता परिणाम को न जानने वाला नियतिवादी ही है, जो कल्पना करता है कि वह कार्य की पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग कर रहा है।"

इस कथन को एक यह अंतिम वाक्य जोड़कर सार्त्र ने समाप्त किया था, **"जहां तक पुरानी पीढ़ी से इस नयी पीढ़ी के अंतर का सवाल है, हम अपेक्षाकृत अधिक नाखुश हैं, परंतु अपेक्षाकृत अधिक जानना भी चाहते हैं !"**[1]

इस अंतिम वाक्य में सार्त्र के घटना-संयोग-सिद्धांत के (थियरी ऑफ कांटिजेंसी) के बीज विद्यमान थे। सार्त्र के मत से अतार्किकता कोई वायवी धारणा नहीं है, बल्कि यह मनुष्य-जीवन की एक तथ्यात्मक दिशा है। इसलिए कला और साहित्य की सारी शक्तियों की सहायता से यह आवश्यक है कि अब मनुष्य को उसके भीतर वर्तमान 'रहस्यात्मक असफलता' यानी अतार्किकता से वाकिफ बनाया जाये, जिसे सार्त्र मनुष्य के भीतर और जगत् में अनुभव कर रहे थे।

अपने क्रांतिकारी धर्म और परंपराद्रोही (कुछ लोगों की दृष्टि में मानवद्रोही भी) विचारों के कारण सार्त्र हमेशा ही कड़ी-से-कड़ी आलोचना और आरोपों के आधार बने। कई लोगों को इस बात पर ही आश्चर्य है कि जर्मन आधिपत्य के दिनों में सार्त्र को अपनी रचनाओं को लिखने और छपवाने की छूट कैसे मिल गयी, जबकि जर्मन 'सेंसर' फ्रांसीसी बौद्धिक वर्ग के प्रति इतना अधिक सावधान और शंकालु था ? गेस्टापो की पैनी दृष्टि के नीचे एक ही आदमी पेरिस की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में जहां अराजनीतिक उदार निबंध लिख रहा था, वहीं प्रतिरोध आंदोलन की प्रतिबंधित पत्रिकाओं को द्रोहपूर्ण उत्तेजक सामग्री भी दे रहा था। अनेक आलोचक सार्त्र और नाजियों के इस संबंध को शंका की दृष्टि से देखते हैं। (**दे० अलफ्रेड स्टर्न, सार्त्र, न्यूयार्क, 1953**)

सार्त्र पर लगाये गये आरोपों का एक प्रमुख कारण उनके राजनीतिक विचार भी कहे जा सकते हैं। सार्त्र आरंभ से ही सर्वहारा और मजदूरों के समर्थक रहे हैं। वैसे वे आर० डी० आर० (रासेम्बुलमेंट डिमाक्रेटिक रिपब्लिकेन) से संबंधित हैं,

1. मेमॉयर्स आफ ए ड्यूटीफुल डॉटर, पृ० 342-43

जो एक सक्रिय राजनीतिक पार्टी नहीं है। यह एक कम्युनिस्ट-विरोधी आंदोलन है, जिसका मुख्य उद्देश्य फ्रांसीसी मजदूरों को शोषण से मुक्ति दिलाना है। यह आंदोलन व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थक है और इसीलिए किसी विदेशी देश के स्वार्थ के लिए फ्रांसीसी कम्युनिस्टों द्वारा फ्रांसीसी मजदूरों को गलत रास्ते पर ले जाने का भी विरोध करता है। 1947 ई० के बाद, विशेषतः 50 के आसपास सार्त्र ने फ्रेंच कम्युनिस्टों की ओर कुछ ज्यादा झुकाव दिखलाया। कारण यह कि सार्त्र का विश्वास था कि आधुनिक विश्व की इस निराशापूर्ण स्थिति का मूल कारण 'यथास्थिति' का मोह है। यह मोह फ्रेंच समाजवादियों से भंग न हो सकेगा। इसे तोड़ने में समर्थ केवल कम्युनिस्ट ही हैं, हालांकि सार्त्र ने यह भी कहा कि यदि कहीं फ्रांस में इनका शासन हुआ, तो सबसे पहले मेरी ही गर्दन उतार दी जायेगी।

कॉफे-जीवन सार्त्र की रग-रग में भरा हुआ है। उन्होंने अपने चिंतन के अधिकांश क्षण कॉफे-गृहों में बिताये हैं। इन्हीं में बैठकर उन्होंने अपनी कई कृतियों के प्रारूप तैयार किये हैं। इतना ही नहीं, कई महत्त्वपूर्ण कृतियों के अंश भी यहीं बैठकर लिखे गये हैं। 'भविता और नास्तिभाव' नामक उनकी सुप्रसिद्ध चिंतन-कृति में इन दो भावों का अंतर समझाते हुए सार्त्र ने जो उदाहरण दिया है वह भी कॉफे-हाउस के एक वेटर पियरे से संबद्ध है। अनेक आलोचक, जो सार्त्र की धर्म के प्रति उदासीन या विरोधी चिंतना से रुष्ट हैं, उनका 'कॉफे-हाउस चिंतक' कहकर मजाक उड़ाते हैं। उदाहरण के लिए फ्रेंच पादरी त्रोस्फातें सार्त्र को परंपरा, मूल्य, धर्म और परिवार से पूर्णतः कटा हुआ 'कहवा-घर का दार्शनिक' कहकर स्मरण करते हैं। सं जर्मे दे प्रे का वह 'कैफे द्यू मैगोते' जिसमें सार्त्र बैठा करते थे, 'अस्तित्ववाद का मक्का' कहकर बदनाम किया जाता है। हालांकि सार्त्र बाद में 'ओतल पां रूवाएल' के महंगे 'बार' में बैठने लगे थे।

सार्त्र के चिंतन का आधार उनकी दो ध्रुवीय अनुभूतियों का योग है। प्रतिरोध में स्वतंत्रता का बोध तथा अस्तित्व की स्पष्ट और अपरिहार्य निरर्थकता, ये दोनों ही चिंतन-सूत्र उनके जीवन के गहरे अनुभवों से प्रसूत हैं। इस कारण इनकी सूक्ष्मता, रूपाकार, भेदोपभेद और आंतरिक असलियत को सार्त्र ने जिस ढंग से अलग-अलग करके रख दिया, वह उन लोगों को भी आश्चर्यचकित कर देता है, जो उन्हें एक गंभीर दार्शनिक की अपेक्षा साहित्यकार मानना कहीं बेहतर समझते हैं।

प्रतिरोध में स्वतंत्रता-बोध की स्थिति का रूप 'रिपब्लिक ऑफ साइलेंस' में हम ऊपर देख चुके हैं। अस्तित्व की निरर्थकता का रूप सार्त्र के मस्तिष्क में इससे भी पहले विद्यमान था। अपनी आरंभिक कृति 'नौसिया' में उन्होंने राक्वेंतिन के

माध्यम से सजीव और निर्जीव दोनों ही अस्तित्वों की निरर्थकता का बोध कराया है और उसके परिणाम से उत्पन्न 'नौसिया' (वमनेच्छा या उबकाई) का रूप भी दिखाया है। एक सार्वजनिक उपवन में घूमते हुए अचानक एक वृक्ष की जड़ को देखकर रावबेंतिन को लगा—

"निरर्थकता की यह धारणा मेरे मन में न थी, न तो यह किसी आवाज में थी बल्कि यह एक लंबे, सर्द, काठ के बने गेडुर वाले सांप की तरह फन काढे मेरे पैरों के पास ही थी—एक सांप, या पंजा, या भयानक नाखून या जड़ या कुछ भी कहें। बिना किसी निष्कर्ष या धारणा के—मैं जान गया कि मुझे अस्तित्व की, उबकाई की या मेरे जीवन की कुंजी मिल गयी है—और सच, उसके बाद से जो भी चीजें मैंने समझीं, वे सब इसी निरर्थकता की श्रेणी में आती हैं।"[1]

सार्त्र के मत से, मनुष्य की मूल प्रकृति अस्तित्व के बाद है। यानी यह नहीं कि मनुष्य के तत्त्व, गुण या धारणा को पहले दृष्टि में रखकर मनुष्य का निर्माण हुआ, बल्कि यह कि ये धारणाएं मनुष्य के अस्तित्व को सामने रखकर सोची गयी। चेतना में जो कुछ बंध सकता है वह हमारे सामने भविता के दो रूपों में उपस्थित होता है: जड़ (एन-सोइ) भविता, जो अपने में ही निहित रहती है जैसे मेज, कुर्सी आदि। चित् भविता (पोर-सोइ), जो अपने स्वयं को जानती है, जैसे मनुष्य। जड़ भविता से चित् भविता काफी भिन्न है। उदाहरण के लिए मनुष्य मेज से भिन्न है, क्योंकि मेज का पदार्थत्व तो उसमें है ही, चित् भविता का अंश होने के कारण वह इन संबंधों पर सोच-विचार भी सकता है। इसलिए मनुष्य की योजनाओं का महत्त्व है। मनुष्य क्या हो सकता है? वह वही हो सकता है जो वह अपने को बनाता है। इसलिए अपनी निर्मिति के लिए वही सब प्रकार से उत्तरदायी है। सार्त्र का कहना है कि मनुष्य पहले अस्तित्व में आता है, फिर परिभाषित होता है; यह नहीं कि उसकी एक परिभाषा बना दी जाये और फिर मनुष्य-अस्तित्व को उसी आधार पर निर्मित किया जाये। एक कारीगर जब एक कुर्सी या कोई यंत्र बनाता है, तब कुर्सी या यंत्र के बनने के पहले 'क्या' की एक धारणा, यानी इन वस्तुओं की मूल प्रकृति (एसेंस) उसके दिमाग में रहती है। सृष्टि-प्रक्रिया में अब तक ईश्वर को ऐसा ही कारीगर और मनुष्य को उसकी निर्मिति माना जाता रहा है। सार्त्र मनुष्य-अस्तित्व को पहले और मूल प्रकृति को बाद की वस्तु मानकर पूरी प्रक्रिया ही बदल देते हैं। ईश्वर का स्थान वे प्रकृति को भी नहीं देते, क्योंकि उनके हिसाब से प्रकृति कोई 'नियमबद्ध कार्य-कारण परंपरा' से अनुशासित तत्त्व नहीं है। 'नौसिया' में वे प्रकृति को भी भयावह आकस्मिकता की राशि कह चुके हैं। ऊपर रावबेंतिन के अनुभव में यही धारणा अभिव्यक्त है। सार्त्र ने लिखा है कि "**प्रकृति के बने-बनाये**

1. द डायरी ऑफ एण्टोने रावबेन्तिन जान लेहमन, (1949), पृ० 16।

नियम नहीं, कुछ आदतें हैं, और इनमें से कोई किसी भी दिन बदल सकती है।"

सार्त्र के मत से, सचेतना 'नास्तिभाव' का पर्याय है। किसी भी पदार्थ के प्रति सचेतन होने का अर्थ है: दूसरे पदार्थों से उस पदार्थ को अलग करना। उदाहरण के लिए, यदि कैफे में पियरे नहीं है तो उसकी अनुपस्थिति का बोध 'नहींत्व' का बोध है। 'पियरे नहीं है' यह कथन ऐसा ही नहीं है कि यहाँ, अ या ब या स नहीं है। क्योंकि अ, ब या स के होने की कोई आशा ही नहीं थी। इस तरह पियरे की अनुपस्थिति एक 'नहींत्व' का स्पष्ट अस्तित्व बन जाती है, जो हमारे मन में घूमती रहती है। हेडगर ने भी 'नास्तिभाव' या 'नहींत्व' के महत्त्व को स्वीकार किया था, किंतु उसे अतिक्रांत स्थिति से जोड़ दिया था। सार्त्र 'नहींत्व' को सांसारिक स्थिति के बीच ही देखते हैं और उनका यह बोध 'प्रतिरोध आंदोलन' के बीच अत्याचारों को सहकर भी पूरी आत्मिक शक्ति के साथ कहे जानेवाले निरंतर स्थिर 'नहीं' से जुड़ा हुआ है। आज ऐसी स्थिति है, कि कभी भी किसी मनुष्य का जीवन किसी क्षण 'नहीं' में बदल सकता है। फिर यह 'नहीं' मात्र कल्पना क्यों है? कहीं-न-कहीं इसकी स्पष्ट स्थिति होनी चाहिए। यह ठोस पदार्थों में, जिनमें चेतना नहीं है, हो नहीं सकता। 'नहींत्व' न कुर्सी में हो सकता है न मेज में। यह 'नहींत्व' सिर्फ आदमी में हो सकता है, और वहाँ वह इसलिए है क्योंकि वह चेतना का ही रूप है। सार्त्र इसी बात को एक दूसरे तरीके से भी स्पष्ट करते हैं। हमारे सुख, दुःख, निराशा, आशा के भाव क्या हैं? ये एक ठोस पदार्थ यानी जड़ पदार्थ की तरह अनुभवगम्य हैं, पर तभी तक जब तक कि हम इनकी व्याख्या नहीं करते। ज्यों ही हमारी चेतना इनका विश्लेषण करने लगती है, इनका रूप निरंतर हल्का होने लगता है और धीरे-धीरे ये अरूप होकर 'नहीं' में बदल जाते हैं। हम सुख-दुःख के भाव से रिक्त होकर उदास हो जाते हैं और पुनः इनके ठोस स्पष्ट रूप के लिए लालायित होकर कार्य में लग जाते हैं, किंतु फिर भी निराशा के अलावा कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि इनको पूर्णतः उपलब्ध करने की स्थिति जड़ और चित् भविता के परस्पर पूर्ण विलयन से ही संभव है, जो कभी संभव नहीं। ऐसी स्थिति सिर्फ ईश्वर की ही हो सकती है, जो कोरी कल्पना के अलावा और कुछ नहीं है; मनुष्य की तो नहीं हो सकती जो एक व्यर्थ इंद्रियबोध मात्र है। इस प्रकार सार्त्र के मत से सचेतनता भविता की अप्रतिष्ठा का कारण है और वह स्वयं में 'कुछ नहीं' है।

चूंकि मनुष्य अपनी सभी स्थितियों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है, इसलिए अस्तित्व का मुख्य अर्थ है स्वतंत्रता। अर्थात् मनुष्य मृत्यु-पर्यंत अपने को, जो वह हो सकता है, बनाने का प्रयत्न करता है। यह एक मृत विश्व है—अतीत का विश्व, परंपराओं, मिथ्या धारणाओं से लदा हुआ विश्व। जीवन और स्वतंत्रता का अर्थ है, 'जो कुछ है, या था' से पूर्ण अलगाव—नये का आह्वान। मनुष्य

का यह प्रयत्न, यह क्षेपण ही, उसके धर्म और गति का कारण है। मनुष्य की इस संसार में उपस्थिति 'होना' का एक रूप-मात्र नहीं है, बल्कि कर्म, वरण और अपनी संभावना के अनुसार अपने को बनाने का प्रयत्न है। संसार को अपने उद्देश्यों के दृष्टिकोण से देखने की प्रक्रिया संसार में दूसरों के होने के कारण अत्यंत उलझ जाती है। इसलिए नहीं कि दूसरे मुझसे भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं, बल्कि इसलिए कि संसार की अधिकांश चीजें जो मुझे मिलती हैं, पहले से ही परिभाषित, निर्णीत, प्रयुक्त और एक विशिष्ट प्रकार की धारणाओं से संयुक्त होती हैं। अपनी योजना के मुताबिक मैं इन्हें एक अर्थ दूं, यह संभव नहीं। ये स्वयं मुझे आदेश देती हैं, और यह आदेश इतना सार्वजनिक है कि मैं एक क्षुद्र निर्वैयक्तिक सत्ता बनकर रह जाता हूं। सार्त्र मृत्यु को हेडगर की भांति अस्तित्व की कोई महत्व संभावना नहीं मानते। मैं मरने के लिए स्वतंत्र नहीं हूं, बल्कि एक स्वतंत्र व्यक्ति हूं जो मरता है। मृत्यु मेरे लिए अदृश्य सीमा है, जैसे दूसरों के अस्तित्व के कारण मेरी स्वतंत्रता की भी एक सीमा बन जाती है।

मेरा अस्तित्व 'जगत् में होने' से अनुशासित है। संसार के नियमों और व्यवहारों के बीच हमेशा ही मेरी स्वतंत्रता या तो अपहृत होती है या दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण करती है। मेरा शरीर सभी संदर्भों का स्थूल केंद्र है। यह एक दृष्टिकोण है, और आरंभ-बिंदु भी, क्योंकि यह उस संसार को निश्चित और संगठित करता है जिसे अतिक्रांत करके मैं अपनी संभावनाओं की पूर्ति का प्रयत्न करता हूं। यदि मैं अचानक किसी ऐसे काम में पकड़ा जाता हूं जिसके जाने जाने से मैं लज्जित या शर्मिंदा होता हूं (जैसे 'की-होल' से किसी दूसरे के गोपनीय कार्य का देखना आदि) तो मैं उसी क्षण अपने बारे में नहीं, दूसरे के लिए स्थित अपने अस्तित्व के बारे में सचेत हो जाता हूं। तब मैं 'अपने लिए स्थित एक व्यक्ति' न रहकर 'दूसरे के लिए स्थित एक व्यक्ति' बन जाता हूं। तब मुझे लगता है कि मेरी स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता से सीमित है, आहत है। दूसरों के प्रति प्रतिष्ठा की यह भावना मुझे यह अहसास देती है कि मैं उस जगत् में हूं जो मेरा नहीं है। दूसरों की अतिक्रांत स्वतंत्रता और अस्तित्व मेरी स्वतंत्रता और अस्तित्व के राज्य में एक सार्वभौम द्वीप की तरह घुस जाता है, जिस पर मेरा कोई शासन नहीं है। दूसरे अस्तित्वों के संपर्क का यह इतिहास घृणा और प्रेम के दो छोरों से बंधा हुआ है। घृणा और प्रेम क्या है? प्रेम में मैं दूसरे की (प्रेमी या प्रेमास्पद की) स्वतंत्रता को मैं अपने अधीन करना या अपने में मिला लेना चाहता हूं। प्रेम-प्रक्रिया में मैं यह आकांक्षा करता हूं कि प्रेमास्पद मुझे ही, मात्र मुझे, अपने वरण का एकमात्र आधार बनाये। इस कारण प्रेम करने का मूल अर्थ प्रेम किया जाना ही है। मैं जब दूसरे की स्वतंत्रता को ग्रहण करता हूं तो उसे भी अधिकार देता हूं कि वह मेरी स्वतंत्रता का उपभोग करे। स्वतंत्रता शरीर से परे अतिक्रांत सत्ता

है, इसलिए प्रेम में शारीरिक इंद्रिय-संपर्क या तृप्ति का भाव एक-दूसरे की स्वतंत्रता के आदान-प्रदान के सूक्ष्म स्तर का विरोधी है, क्योंकि दूसरे की स्वतंत्रता या आंतरिकता, कभी भी शारीरिक ढंग से आत्मसात् नहीं की जा सकती। जहां एक-दूसरे की स्वतंत्रता स्वेच्छया हस्तगत करने का या देने का भाव नहीं है, वहां दो अस्तित्वों के संघर्ष का रूप आता है। इसके नानाविध सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप होते हैं। संसार में मनुष्य अपने अस्तित्व को पूर्णतः बचाकर, यानी दूसरे अस्तित्वों द्वारा अपने अस्तित्व को पदार्थ बनाए जाने की प्रक्रिया से बचाकर, नहीं रह सकता। सारे अस्तित्व मेरे लिए पदार्थ बनें, और मैं निरंकुश शासक की तरह किसी के प्रयोजन का पदार्थ न बनूं, यह स्थिति आत्म-वंचना है, और बहुत दूर तक नहीं चल सकती। ऐसे ही स्वभाव का व्यक्ति दूसरे के अस्तित्व या स्वतंत्रता को वशीभूत न बना सकने के कारण उसका विनाश चाहता है। यह घृणा है। घृणा एक मलिन भाव है, क्योंकि इसकी प्रक्रिया में दूसरे की स्वतंत्रता पर आघात किया जाता है और हम एक-दूसरे की स्वतंत्रता को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार 'मैं' पदार्थ बनता है उसी प्रकार 'समूह' या 'हम' भी पदार्थ बनता है, जैसा किसी मालिक या इंजीनियर के अंतर्गत कार्य करनेवाले नौकर या मजदूर। समूह-मानव सही अस्तित्व की प्रबल वंचना है, क्योंकि भीड़ में शामिल होकर मनुष्य अपने अनुत्तरदायित्वपूर्ण अकेलेपन तथा स्वतंत्रता के अभाव को भुलाकर पलायन का सुख पाता है।[1]

इस जीवन का चरम ध्येय, अभीष्ट या मूल्य जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सार्त्र चूंकि पूरे मानव-अस्तित्व को आकस्मिक घटना-संयोग मानते है, अतः मानव-जीवन में मूल्यों का प्रश्न भी वे इसी के संदर्भ में निश्चित करना चाहते हैं। मूल्यों का प्रश्न असल में मूल प्रकृति (एसेंस) से संबंधित प्रश्न है। मनुष्य को पूरी ऐकांतिकता में, पूरे उत्तरदायित्व के साथ, अपने मूल्य स्वयं चुनने हैं। वह अपने पथ का निर्माता स्वयं है। इस चुनाव और वरण में खतरे और जोखम हैं, किंतु मनुष्य स्वतंत्र होने और उसका अनुभव करने के लिए अभिशप्त है। स्वतंत्रता सब मूल्यों की जननी है। मनुष्य वह वस्तु है जिसके भीतर से मूल्य उदित होते हैं; इसलिए मनुष्य कभी भी यह न चाहेगा कि वह मूल्य-निर्माण की अपनी स्वतंत्रता खो दे। 'एक्जिस्टेंशियलिज्म ऐंड ह्यूमनिज्म' नामक पुस्तक में सार्त्र मूल्यों के प्रश्न पर काफी विस्तार से विचार करते हैं। सार्त्र के मत से चीजें चीजों के द्वारा निर्णीत होती हैं, किंतु स्वतंत्र होने के कारण मनुष्य-मस्तिष्क किसी

1. 'बीइंग ऐंड नथिंगनेस' का सार-संक्षेप।

पाठकों के अस्तित्व की चेतना अनिवार्य है। लेखक पाठक की मानसिक प्रक्रिया को निर्दिष्ट करता है। साहित्य का अध्ययन सार्त्र की दृष्टि से निर्दिष्ट सृजन है। पाठक भी सृजन करता है। साहित्य साहित्य-सृजेता की स्वतंत्रता की पाठक की स्वतंत्रता के प्रति अपील है, ताकि पाठक पुनः एक सृजन कर सके। मनुष्य यथार्थ या सत्य का उद्‌घाटक है। लेखक का एकमात्र उद्देश्य होता है कि वह, जो पाठक में मूल्यों के मानदंड, विचार-भाव और पूर्ण सावधानता का स्वतंत्र सहयोग मांगता है, पाठक के सामने इस संसार को इस ढंग से प्रकट करे कि स्वतंत्र स्थितियां मनुष्य में और भी अधिक स्वतंत्रता का बोध जगा सकें। लेखक पाठक से कभी भी यह आशा नहीं कर सकता कि वह स्वतंत्रता को विनष्ट करनेवाले अत्याचारियों के प्रति अपनी सहानुभूति दे। प्रत्येक ऐतिहासिक स्थिति में लेखक की क्रियाशक्ति, सृजन और विनाश की शक्ति की परीक्षा होती है और उसे पाठक के सामने यही उद्‌घाटित करने का कर्तव्य निभाना चाहिए। सार्त्र के मत से, "साहित्य एक क्रांतिपूर्ण जाति की आत्मिकता (सब्जेक्टिविटी) है।"

वैसे तो सार्त्र 1947 में ही राजनीतिक विषयों पर विचारपूर्ण निबंधादि लिख रहे थे, खासतौर से हिंदचीन, अलजीरिया, अमरीकी राजनीति और नीग्रो समस्या आदि पर, किंतु 1952 ई० के जुलाई के 'ले तां मार्देन' में प्रकाशित उनके निबंध 'द कम्युनिस्ट्स ऐंड पीस' ने काफी तहलका मचाया। इस निबंध की दो प्रमुख स्थापनाएं थीं। पहली यह कि सोवियत रूस शांति चाहता है जो उसके कार्यों से दिन-प्रतिदिन प्रकट होता जा रहा है, और दूसरा यह कि केवल कम्युनिस्ट पार्टी ही वह पार्टी है जो फ्रेंच पार्लियामेंट में सर्वहारा (फ्रांसीसी) का सही प्रतिनिधित्व करती है।

इस निबंध के कारण सार्त्र पर काफी आरोप हुए, विशेषकर अमरीकी पत्रकारों की ओर से कि वे कम्युनिस्ट हैं।

1957 ई० में सार्त्र की पुस्तक 'क्वेश्चन ऑफ मेथड' जो बाद में 'क्रिटिसिज्म ऑफ डायलेक्टिकल रीजनिंग' नाम से प्रकाशित हुई, मार्क्सवाद की व्याख्या करती है। सार्त्र इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"**जैसे चंद्रमा समुद्र के ज्वार को खींचता है, वैसे ही हमें आकृष्ट करके, हमारी पुरानी धारणाओं में परिवर्तन करके, हमारी आत्मा में बुजुंवा विचारों की सभी श्रेणियों को ध्वस्त करके, मार्क्सवाद हमें एक प्लेटो पर लाकर छोड़ देता है। यह हमारी आवश्यकताओं को समझने की शक्ति खो चुका है, इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें कुछ नया सिखा सके, इसकी गति बंद हो चुकी है है।**" सार्त्र एक नव-मार्क्सवाद के चक्कर में हैं जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अस्तित्व को आर्थिक समता और

शोषण-हीन समाज से जोड़ सके। किंतु उनका यह विचार कभी प्रतिफलित होगा भी या नहीं, इसमें संदेह है। मार्क्सवाद पर की गयी सार्त्रीय आलोचनाओं का उत्तर देते हुए हंगरी के प्रसिद्ध मार्क्सवाद चिंतक लूकाच ने लिखा है कि "सार्त्र एक ऊंचे पाये के चिंतक हैं, किंतु उन्होंने सस्ती विजय के लोभ में मार्क्सवाद की स्थापनाओं को अपंग बनाकर उनका मजाक उड़ाया है।"

सार्त्र आधुनिक संकट तथा मूल्यहीन मूढ़ता की सांप्रतिक परिस्थितियों में दुखी मानवता का एक गंभीर और महान् चिंतक है, इसमें संदेह नहीं।

बीन प्रजाजन, साम्राज्य-सूर्य के सामने की ओ दूरतम घिरती हुई महत्त्वहीन
ा ! ! सुनो, मृत्यु-शय्या पर पड़े सम्राट ने एक संदेश भेजा है, सिर्फ तुम्हारे
, एक संदेश ! उन्होंने संदेश-वाहक को आज्ञा दी कि वह शय्या के पास घुटने
ल बैठ जाये और तब उन्होंने वह संदेश उसके कान में फुसफुसाकर कहा ।
ा गौरव दिया उन्होंने इस पर कि संदेशवाहक से उसे फिर अपने कान में
ाने के लिए कहा, फिर गर्दन हिलाकर उन्होंने स्वीकृति दी, कि ठीक है। हां,
ी अवरोधक सीमाओं के परे, सीढ़ियों के उच्चतम, ऊपरी सिरे पर, साम्राज्य
नेकानेक राजकुमारों और दर्शकों के सामने, उन्होंने यह संदेश दिया। संदेश-
क तुरंत चल पड़ा। कितना शक्तिशाली, अथक है वह व्यक्ति, कभी दायें कभी
हाथ से भीड़ को चीरता, राह बनाता जब रुक जाता है तब वह अपने वक्ष पर
ते सूर्य-पदक की ओर इशारा करता है और यह सच भी है कि इससे उसके
पथ अपेक्षाकृत सरल हो जाता है, किंतु भीड़ इतनी बड़ी है, इतनी संख्यातीत,
वह क्या करे ! काश ! वह इसे चीरकर बाहर आ पाता। मुझे पूरा विश्वास है

उदास अतर्क्य जिंदगी का चितेरा :
काफ्का

कि तब वह जल्दी-से-जल्दी तुम्हारे पास आ जाता और तुम उसकी स
अपने दरवाजों पर अनुभव करते। किंतु वह तो अभी वहीं लथपथ हो
अब भी राजभवन की भीतरी कोठरियों में ही उलझा है। वह इनका
पाएगा, और यदि पा भी गया तो उसे सीढ़ियां उतरनी होंगी और यदि
सफल हो गया तो क्या होगा? सामने कचहरी है और उन कचहरियों
का दूसरा बाहरी भाग। फिर वही सीढ़ियां, वैसी ही कचहरियां और फि
बाहरी हिस्सा—और फिर इसी तरह हजारों वर्षों का व्यर्थ श्रम—औ
में वह बाहरी तोरण को किसी तरह पार कर भी जाये—किंतु नहीं, ऐ
होगा क्योंकि इसके पहले उसे वह राजधानी पार करनी होगी, जो सारे
हृदय है, और जो स्वयं निर्मित कूड़ाकरकटों से खचाखच भरी है। य
अपना रास्ता नहीं पा सकता, कम-से-कम वह तो और भी नहीं जो एक
का संदेश लिये हो। किंतु शाम ढले तुम अपनी खिड़की पर बैठकर खु
कि यह संदेश क्या हो सकता है।[1]

निरीह दीन प्रजाजन, मृत सम्राट और वहां आदर और श्रद्धा से भरे
बीच हमेशा-हमेशा के लिए खो चुका संदेश। भौतिक और आध्यात्मिक
अनमिल संधि पर, निर्दोष और निरपराध होते हुए भी निरंतर एक अ
से छटपटाती हुई आत्मा—अपने दुख के प्रति पूर्ण सजग और जाग
किसी भी ग्रंथि के समाधान-सूत्रों को पाने में असफल बुद्धि की अथक :
···हां, यही है फ्रैंज काफ्का, बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अभूतपू
जिसने एक ऐसी काफ्काई दुनिया की सृष्टि की, जो ऊपर से अजीब अं
चरित्रों के निरर्थक क्रिया-कलापों और ऐसी समस्याओं से भरी है जि
धान वे कभी ढूंढ़ नहीं सके। यहां भयानक संत्रास भी है, मांसल शरीर
आकर्षण भी; किंतु काफ्काई दुनिया की गहराई में उतरने वाला हर पा
है कि इस दुनिया के भीतर दो अलग-अलग दुनिया हैं, एक-दूसरे की
एक-दूसरे की पूरक, जो आमने-सामने ऐसे उदासीन भाव से स्थित हैं
बीच के छिपे रहस्यात्मक संबंध-सूत्रों को बिलगाना टेढ़ी खीर है। अल
के शब्दों में—"एक ऐसा प्रतीक, जो दो स्तरों पर, विचार, अनुभव की
और उनके बीच के संबंधों के नये शब्दकोष का निर्माण करता है। ऐसे
का निर्माण निश्चय ही एक कठिनतम कार्य है। एक दुनिया है दैनंदि
जीवन की, दूसरी है अति प्राकृतिक आध्यात्मिक चिंता और परेशानी क

1. पैरेबुल्स, शोकेन बुक्स (Schocken books) 1947
2. काम्यू द मिथ ऑफ सिसिफस, पृ० 102, आर्थिन प्रोब्याबन, लंदन 1955 ई०

ं में फ्रेंज काफ्का का जन्म प्राग में हुआ। पिता एक धनी यहूदी
ारी थे। आरंभ में उसकी शिक्षा 'जिमनेशियम' में हुई और बाद
वविद्यालय में भरती हुआ। शुरू में वह रसायनशास्त्र तथा जर्मन
हत्य का विद्यार्थी रहा, बाद में कानून की शिक्षा पायी। मैक्स ब्रॉड
ा यहीं हुई थी। 1906 में कानून की परीक्षा उत्तीर्ण करके वह एक
नक बैरिस्टर के रूप में कार्य करता रहा। पिता के बहुत आग्रह पर
: लिए उसे एक वर्ष पारिवारिक व्यवसाय में लगना पड़ा। फिर
ान इंश्योरेंस कम्पनी' में अफसर हुआ। उसे प्रायः दो बजे तक अपने
मिल जाती थी, इसलिए उसे अपने लेखन-कार्य के लिए काफी समय
थम विश्वयुद्ध में उसे दुर्बल शरीर और बुरे स्वास्थ्य के कारण
की अनिवार्यता से छूट मिल गयी। 1917 ई० में प्रथम बार यह
ह घातक क्षय रोग से पीड़ित है। वह अपने को पूरी तरह से साहि-
लगा देने के उद्देश्य से बर्लिन में आकर रहने लगा।
ं में बर्लिन की सामान्य लड़की से उसकी सगाई तय हुई किंतु टूट
ने अनुभव किया उसकी मनःस्थिति ऐसी नहीं है कि विवाह को झेल
क जीवन में दो व्यक्तियों का महत्त्व सबसे अधिक प्रभावकारी सिद्ध
उसकी प्रेमिका मिलेना का और दूसरा उसके उपेक्षाशील पिता का।
ाग के उन उच्च प्राचीन चेकवंशों से संबंधित थी, जो वस्तुतः चेको-
सच्चे खानदानी रईस (पैट्रिशिएट्स) कहे जा सकते हैं। मिलेना के
पत्रों के संपादक विली हास् के शब्दों में, "वह किसी को भी सोल-
ताब्दी की किसी सामंत स्त्री की तरह लग सकती है। ऐसे चरित्रों
स्टैंडल ने प्राचीन इतालवी पुरावृत्तों से अन्वेषित करके अपने उप-
ष्ठित किया। एक मित्र के रूप में वह कभी समाप्त न होने वाला
ा का, साधन और सुविधाओं का, जिसके उत्स का रहस्य प्रायः ही
तु जैसी अक्षय वह वदान्यता में थी, वैसी ही मित्रों पर अधिकार
' मिलेना के जीवन के सर्वोत्तम वर्ष युद्ध के पहले के कुछ वर्ष थे,
ग में गुजारा था। इन वर्षों में उसने अपना सब-कुछ, एक सैलानी
ा, जीवन, धन और अनुभव, सभी कुछ। अपनी सैलानियत में
रवाह नहीं करती थी और काफ्का के पत्र इसके साक्ष्य हैं कि किस
ना के अनुग्रक्रोध के सामने समर्पण करना पड़ता था। अपने इस
ण उसे स्वयं भी अनंत पीड़ाएं भोगनी पड़ीं। काफ्का के प्रति उसके
र श्रद्धा की कमी न थी, और इसी कारण उसके दुख का भोग्य भी
ाया। चूंकि काफ्का दुखी था, इसलिए मिलेना दुखी थी, शायद इस-
सने सोचा कि इस दुख की भागीदार होकर ही वह उसके अंतर्तम को

जान सकती है। इसीलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मिलेना को भी
बीमारी हुई, क्योंकि काफ्का को यह बीमारी थी, या कम-से-कम इतना
उसके बारे में इतनी तल्लीनता से सोचती रही कि खून के बुलबुले आगे
मुख से भी निकल पड़े। मिलेना के जीवन के अंतिम वर्ष तो और भी
बीते। रावेनसब्रक के 'कांसेंट्रेशन कैंप' में घायलों, रोगियों और जघन्य
के बीच उसे कैद करके रखा गया। और वहीं 17 मई, 1944 ई०
'किडनी ऑपरेशन' के समय मृत्यु हो गयी। उस बीभत्स स्थान में भी
जिजीविषा, निर्भीकता और ममता से भरी हुई थी, इसकी पूरी झांकी उ
कैदी मारग्रेट बुबर न्यूमन की पुस्तक 'अंडर टू डिक्टेटर्स' में मिलती है।

मिलेना ने काफ्का की कुछ आरंभिक रचनाओं का चेक भाषा में अनु
था। इसी सिलसिले में दोनों परिचित हुए। अक्तूबर 15, 1921 ई०
ने लिखा कि उसने अपनी सभी डायरियां 'एम' को दे दी हैं। यह इ
प्रथम अभिव्यक्ति है, जो इस बात का सबूत है कि काफ्का अपने को पू
खोलकर उसके सामने रख देना चाहता था। वह उसे हमेशा 'अंधेरे की
कहा करता। दोनों ओर अगाध आकर्षण था, किंतु यह प्रेम कभी भी एक
आश्वस्त न कर सका। 12 फरवरी, 1922 ई० की डायरी से पता च
मिलेना ने काफ्का को लिखा था—"तुम, जैसा चाहते हो, वैसा प्रेम मु
कर ही नहीं सकते, क्योंकि तुम अनचाहे ही मेरे प्रति अपने प्रेम को बहुत
हो और मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम तुमसे बिल्कुल प्रेम नहीं करता।" यह स
मिलेना ने काफ्का की निराश और टूटती हुई आत्मा को ताजगी और जो
जगा दी, किंतु उसकी तीव्र प्रतिभा और प्रखर बौद्धिकता उसके भीतर
स्नायविक लहर भी जगाती थी, कि उसे इन मादक पत्रों के पढ़ने की अपे
कभी कुछ देर के लिए सो जाना कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण मालूम होता था

विली हास ने इस पूरे प्रेम-प्रसंग का निष्कर्ष निकालते हुए लिखा
पत्रों में वह पूरी नश्वर प्रेम-कथा है जो निराशा, आनंद, आत्मविदीर्णता औ
के मदहोश उत्सव-सी लगती है। क्योंकि वे चाहे जितनी बार एक-दूसरे से
उनका प्रेम पूर्णतः एक पत्र-प्रेम ही बनकर रह गया।"

इस प्रेम की प्रगाढ़ता में कमी के कई कारण हो सकते हैं। मिलेना
थी, दूसरे वह ईसाई थी। काफ्का की एक सगाई टूट गयी थी, किंतु
आग्रह निरंतर उसे दबोचता आ रहा था। और फिर वह यहूदी था।
बड़ा कारण शायद यही था कि काफ्का अपने मानसिक गठन के कारण त
भीतर निरंतर बढ़ती अपराध-भावना और आत्म-पीड़ा के कारण प्रेम क

एक बार उसने अपनी डायरी में लिखा—"यदि कहीं अचानक यहां तो कितना भयानक होगा यह !"

ो लिखे काफ्का के पत्रों में न केवल उसकी मनःस्थितियों, मान्यताओं ा की लघु-लघु झांकियां प्रतिफलित हैं, बल्कि अनेक पत्र ऐसे भी हैं ुष्य की अनेक गुत्थियों का समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं। समाज, क तटस्थ अदृश्य शक्ति के संबंधों की नाना व्याख्याएं इन पत्रों में दो लोकों के बीच, उनके परस्पर विरोधी आकर्षण से टूटता हुआ पत्रों में अनेकशः अभिव्यक्ति पाता रहा है। उदाहरण के लिए एक

, मिलेना, प्राग में तुम्हारी एक संपत्ति है जरूर और कोई इससे इन- कर सकता, जब तक कि रात न हो जाये जो इसे अपने में छिपा ले, हर चीज को छिपा लेने के लिए संघर्ष करती ही रहती है। फिर ? मैं इसका मूल्य कम करना नहीं चाहता, यह कुछ-न-कुछ है ही, ड़ी भी कि तुम्हारे कमरे के पूरे चांद को ढंक ले। और क्या इतना तुम्हें डरायेगा नहीं ? एक ऐसा अंधेरा, जो अंधेरे की हर गर्माहट से

रेखाचित्र भेज रहा हूं ताकि तुम मेरे शुगल के बारे में कुछ जान

खंभे हैं। बीच के दो खंभों से लोहे की छड़ों में 'अपराधी' के हाथ खंभों की छड़ों से उसके पैर बंधे हैं। उसे इस तरह बांधकर छड़ों ओर तब तक कसा जाता है, जब तक कि आदमी मध्य से विदीर्ण न ल के लैंप-पोस्ट से पीठ टिकाये इसका आविष्कारक खड़ा है, हाथ-

पर-हाथ और पैर-पर-पैर धरे, इस रोब के साथ, मानो यह इसका य
आविष्कार हो जबकि सच्चाई यह है कि उसने उस कमाई की नकल
अपनी दूकान के सामने खलियाये हुए सूअर को इसी तरह बांधकर चीर

कापका के जीवन पर दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव उसके पिता का पड़ा
विरोधात्मक प्रभाव कह सकते हैं। धनी पिता, जो खुद एक आत्मनिर्मित
लड़के को साहित्य-लेखन के व्यर्थ कार्य में उलझा देख, न केवल असंतुष्ट
उन्होंने अनेक बार अनुचित और कड़ा व्यवहार भी किया। धन औ
प्रतिष्ठा के प्रति बुरी तरह आकृष्ट पिता का यह व्यवहार कापका के मन
और जीवन की निरर्थकता के भाव को जगाने का कारण बना। 'मेटा
(काया-परिवर्तन) शीर्षक कहानी मानो उसकी इस मानसिक प्रतिक्रिय
व्यक्ति का ही एक रूप है। 1919 में पिता के नाम लिखे उसके सुप्र
एक पंक्ति है—"मेरा सारा लेखन किसी-न-किसी तरह आपसे ही संब

युद्धोत्तर यूरोप के दमघोंट वातावरण और अकेलेपन ने काफ्का के
पूरी तरह जर्जरित कर दिया। प्राग के वातावरण में वह एक विदेशी
था और जर्मनी के यहूदी-विरोधी वातावरण में एक उपेक्षित यहूदी।
सन की इस भावना का कांटा उसकी आत्मा में गहरे-से-गहरे धंसता
रोग की भयानकता बढ़ती गयी। लाचार उसे वियना के 'सैनि
पहुंचाया गया, जहां 1924 ई० में कुल इकतालीस वर्ष की अवस्था मे
हुआ। जीवन के अंतिम कुछ वर्ष वह डोरा डाइमेंत के साथ शांतिपूर्वक
सका। वह उसमें विवाह भी करना चाहता था, पर डोरा के पिता
की अनुमति नहीं दी; क्योंकि उनके हिसाब से काफ्का में धर्म के प्र
कट्टरता का अभाव था। कापका के जीवन के इस अंतिम हिस्से का
के संस्मरणों पर ही आधारित है। कापका की एक काफी विस्तृत औ
जीवनी उसके मित्र मैक्स ब्रांड ने लिखी जो 'फ्रैंज कापका : एक जीव
जर्मन भाषा में 1936 में प्रकाशित हुई। बहुत लोगों का ख्याल है
उपन्यास का पात्र कवि रिचर्ड गार्टा कापका की ही प्रतिछवि है।

आरंभ से ही वह अपने लेखन के प्रति एक अजीब संकोच औ
भरा रहा। मैक्स ब्रांड के बहुत आग्रह पर उसने आरंभ की लिखी
चीजों को प्रकाशित कराया, पर ये पाठकों-आलोचकों का ध्यान आ
सकीं। 'अमरीका' उपन्यास का एक खंड 1913 मे, मेटॉमारफोसिस

- 1. लेटर्स टु मिलेना, अनु० विली हाब, पृ० 204

सेट्लमेंट' 1919 में छपी। मृत्यु के कुछ पहले अपनी 'अंतिमेच्छा'
उसने मैक्स ब्राड के नाम एक पत्र में लिखा था—"प्रिय मैक्स,
ा ! जो कुछ भी मैं छोड़ रहा हूं, चाहे वह किताबों की आलमारी
दराजों में या ऊपर, घर में या दफ्तर में, कहीं भी, जो कुछ भी
र पा सको, नोट्स, डायरी, पत्र, पांडुलिपियां, मेरे या दूसरे के
), यह सब-कुछ बिना पढ़े जला दिया जाना चाहिए। जो कुछ
ास हों, वापस न मिलें, तो भी विश्वासपूर्वक नष्ट कर दिये जाने

पने मित्र की इस अंतिम इच्छा को चाहकर भी पूरा न कर सके
और परिश्रम से 'द ट्रायल' (1925), 'द कैसल' (1926) और
!7) नामक उपन्यास उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए। 'द
सल' इन दो उपन्यासों और कुछ कहानियों ने संपूर्ण यूरोपीय
त कर दिया और काफ्का एक अस्तित्ववादी चिंतक-साहित्यकार
श्व में विख्यात हो गया।

त्य को समझने के लिए जगत् और ईश्वर के विषय में यहूदी
अनिवार्य हो जाता है। इस संदर्भ में मैं जी० शोलेम की पुस्तक
'विश मिस्टिसिज्म' की चर्चा करना चाहता हूं। शोलेम संपूर्ण
भागों में बांट देते हैं। पहले स्तर में, उनके मतानुसार, मनुष्य
ताओं में एक प्रकार की समन्वयधर्मिता (हार्मोनी) दिखाई पड़ती
ंसार की प्रत्येक वस्तु के भीतर एकसूत्रीय एकता का रूप झल-
कहीं उच्छृंखलता है, न कहीं अराजकता। दूसरे स्तर में धर्म का
इस समन्वयधर्मिता को नष्ट करना ही हो जाता है। मनुष्य,
के बीच एक अपटनीय खाई पैदा हो जाती है। धर्म मनुष्य को
र पौराणिक स्वप्निल समरसता के वातावरण से निकालकर
देता है। अपने पूर्ण विकसित क्लैसिकल रूप में धर्म उस विराट्
हो जाता है और यह खाई इतनी बड़ी निरंकुश सत्ता का रूप ले
ोमित भौतिक मनुष्य और असीम पारदर्शी विभु के बीच कोई
रहने ही नहीं देती। शोलेम का यह विभाजन न सिर्फ यहूदी
: किसी धर्म पर बल्कि प्रकारांतर से मनुष्य के समूचे बौद्धिक
ोता है। हमारे युग की सबसे बड़ी समस्या ही है अलगाव

त् का हर पात्र जैसे इस अलगाव को पाटने के लिए निरंतर

प्रयत्नशील है। अलगाव—मनुष्य और मनुष्य का, मनुष्य के बाहरी उ
अस्तित्व का, उसके भौतिक और आध्यात्मिक (मेटॉफिजिकल) अंशों
जीवन की अतर्क्य परिस्थितियों और तर्कपूर्ण बुद्धि का, और सबसे ऊप
नक संत्रास में अभिशप्त जिंदगी और उससे वियुक्त सार्थकता का।
अलगाव दूर नहीं होता, मनुष्य की जिंदगी में सामरस्य स्थिति का ट
सकता। क्या यह अलगाव दूर हो सकता है? यही प्रश्न है जिसका उ
सृजन के माध्यम से देने चला था।

'द ट्रायल' का नायक जोजेफ 'के'० (जो काफ्का नहीं भी है, का
नहीं इसलिए कि वह सामान्यत: कोई भी आधुनिक यूरोपीय मनुष्य है
और है इसलिए कि वह काफ्का के खून और मांस का ही समीकरण
बैंक का अफसर है। वह एक दिन सोते से जगाया जाता है और पु
अधिकारी उसे 'गिरफ्तारी' का आदेश सुनाता है। उसे सभी द
सामान्यतया करते रहने की छूट है, बस करना सिर्फ इतना है कि
समय पर मजिस्ट्रेट के सामने हाजिर होते रहना है, जिसकी इजलासें ग
गंदी दमघोंट बस्ती में लगा करती हैं। जोजेफ के० को यह नहीं मालू
कि उसके अपराध क्या हैं, और न तो वह कभी अपने को निर्दोष ही
है। अपराध को जानने की इच्छा, और इस अकारण परेशानी से बचन
उसे निरंतर तीव्र गति से अनेक प्रवहमान घटनाओं और परिस्थिति
ले जाती है जो किसी भी व्यक्ति को दु:स्वप्नों की एक कतार की तर
सकती हैं। कचहरी के अंधेरे कमरे में एक फराश-महिला से उसकी मु
है, जिसे कानून का एक विद्यार्थी (भावी जज भी) सस्ते किस्म के प्रेम
उलझाता है। क्रोध में वह जज के रजिस्टर को उलटता है, जिस
कला में बनी नारी-पुरुष युग्म की नग्न आकृतियां परस्पराभिमुख
थीं, जो अकड़ी हुई शक्लों के कारण अभीष्ट स्थान पर मिल नहीं पात
चाचा लेनी के आग्रह पर डॉ० हुल्ड को अपना वकील नियुक्त करत
रजिस्टर को पटकते समय के० ने कहा था—"मैं जानता हूं, इस पू
पीछे मेरी गिरफ्तारी और आज की पूछताछ के पीछे एक संगठन
चौकीदारों, मूर्ख इंस्पेक्टरों और अपनी सारी सीमाएं जाननेवाले ग
नियुक्ति करता है—और अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने के लि
चपरासी हैं, क्लर्क हैं, पुलिस और दलाल हैं पर इसका प्रयोजन?
प्रयोजन? निरपराध व्यक्तियों को गिरफ्तार करके उन्हें निरर्थक
डालना, यही न?" उस समय तमतमाये हुए जोजेफ के० को जज ने
कहा था—"मैं सिर्फ इतना कहूंगा कि तुम आज भले ही सत्य से
सके हो, तुम आज भले ही अपने ही हाथों इस महत्त्वपूर्ण प्रथम पूछता

सभी सुविधाओं को, जो एक अभियुक्त को स्वाभाविक रूप से प्राप्त क दो, किंतु···"

के० ने जज को वाक्य पूरा भी नहीं करने दिया था और उसे 'बेहूदा' री से बाहर निकल आया था। पूरे वर्ष भर तक इस मुकदमे के दौर ए वह करीब-करीब विक्षिप्त-जैसा हो गया। चित्रकार टिटोरेली ने हाई, आधी रिहाई और टालू रिहाई के भेद समझाये, फिर भी कोई । और एक दिन दो पीले मोटे इन्सान, जो फ्रॉक-कोट और सिल्क- आये और उसे पकड़कर एक वियाबान टीले की ओर ले गये, जहां पत्थर पर लिटाकर उसकी गर्दन काट दी। अंतिम समय भी जोजेफ हल्ड का यह वाक्य याद न आया कि—"स्वतंत्र रहने की अपेक्षा में रहना कहीं अच्छा होता है।" उसके मुंह से तो सिर्फ इतना ही 'कुत्ते की तरह।"

एक व्यक्ति के अदृश्य आध्यात्मिक शक्ति के विरुद्ध संघर्ष की गाथा शक्तियों को ठीक से समझ नहीं पाता। जोजेफ के० निरपराध है, किंतु बन जाता है क्योंकि उसने जज का अपमान किया। वह 'ओल्ड टेस्टा- ' का ही प्रतिरूप है जिसने ईश्वर से संघर्ष किया, किंतु हजारों अत्या- हकर भी ईश्वर के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा में कोई कमी नहीं आयी। ा चाहता है कि इस जीवन का उद्देश्य सामान्य स्तर पर निरर्थक रूप ीं है, बल्कि एक उच्चतर मूल्य के प्रति संकल्पित होना है। और इस र व्यक्ति को अपना 'क्रॉस' ढोना पड़ेगा ही; किंतु ऐसा करते हुए भी वश्यक नहीं है कि मनुष्य आंतरिक शांति पा ही जाये। जीवन के य या कर्मों को ऋतु या न्याय हमारे ऊपर आरोपित करता है। ये ही अप्रिय या अनुचित लगें, इन्हें स्वीकार करना ही होगा। इसी वह सुप्रसिद्ध नीति-कथा भी आती है, जो व्यक्ति और अदृश्य सत्ता के व-सूत्रों की व्याख्या करती है। न्याय के द्वार का रक्षक न्याय पाने के त को दरवाजे पर रोक देता है। वह व्यक्ति लगातार प्रतीक्षा करता रता है कि किसी प्रकार इस द्वार के भीतर जा सके। द्वारपाल उसे न देता है। वह उसी पर बैठा निरंतर प्रतीक्षा करते हुए मरणासन्न उस मरते हुए के कान में द्वारपाल कहता है—"इस द्वार के भीतर ा दूसरा कोई नहीं पा सकता, क्योंकि यह द्वार सिर्फ तुम्हारे लिए ही कथा कहनेवाले पादरी की तरफ हैरानी से देखते हुए के० ने पूछा स द्वारपाल ने उसे धोखा दिया।" "नहीं, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं

है।" पादरी ने कहा—"सच तो यह है कि द्वारपाल न्याय-मंदिर के भं
स्थितियों से पूरी तरह वाकिफ भी नहीं है।" "तो इसका अर्थ है कि द्वार
धोखा दिया गया ?" के० ने पूछा। "द्वारपाल सीधा कहा जा सकता है, न
क्योंकि वह न्याय का ही एक अंग है और उस पर निर्णय देना मनुष्य के :
के बाहर की वस्तु है।" के० ने अस्वीकृति के भाव से गर्दन हिलाते हुए
"मगर यदि कोई इतना स्वीकार करता है तो उसे वह सब-कुछ भी स्वीका
चाहिए जो द्वारपाल ने कहा। किंतु आपकी व्याख्या स्पष्ट ही प्रमाण है कि
स्वीकार करना असंभव है !" इस प्रश्न पर पादरी जो अंतिम उत्तर देता
जिंदगी का काफ्काई निष्कर्ष है कि —"यह कोई जरूरी नहीं कि प्रत्येक :
'सत्य' माना ही जाये, मगर उसे 'आवश्यक' मानना ही चाहिए।"

यह एक विचित्र कथा है। एक व्यक्ति जो अपनी आंतरिक पिपासा वे
आध्यात्मिक अन्वेषण के लिए प्रयत्नशील है, और वह प्रयत्न इतना आवश्
महत्त्वपूर्ण है उसके लिए कि वह हर प्रकार से अपनी बुद्धि और शरीर की
शक्तियों के साथ उसके प्रति संकल्पित है, उसके रहस्यों को ठीक से न ज
कारण, पूरी ईमानदारी के बावजूद, न सिर्फ अतर्क्य गुत्थियों से उलझ :
जिनसे कहीं छुटकारा नहीं, बल्कि अनेक चिंताओं और कष्टों से विदीर्ण है,
वह जीवन से भी हाथ धो बैठता है। कितना ग्लानिपूर्ण, अनकिये अपराध से
दयनीय बन जाता है यहां मनुष्य। और यही है काफ्का का सांकेतिक बि:
अविश्वास और अदृश्य के प्रति एक समर्पित का अतिमानसिक विद्रोह।

'द ग्रेट वाल ऑफ चाइना' कहानी भी जगत्, व्यक्ति और अदृश्य सत्ता :
की बड़ी स्पष्ट व्याख्या करती है। इस विशाल दीवार के एक सीमित हि
काम करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि की सीमा के अनुरूप उसे उ
देख पाता है। किंतु हर कोई एक संदेश की प्रतीक्षा में है, जो पीकिंग से स
भेजा है, किंतु रास्ते की रुकावटें, यात्रा की कठिनाइयां ऐसी अवरोधक हैं
संदेश कभी पहुंच नहीं पाता। काफ्का शायद यह कहना चाहता है कि अपनी
शक्ति के कारण हम अस्तित्व के पूरे रूप को देखने में असमर्थ हैं या न दे
के लिए आज्ञापित हैं। हम अपने व्यक्तिगत जीवन और उसके अनुभवों से :
हैं कि इन खंडों को एक में मिलाकर समग्र रूप को एक इकाई में देखने की
और अवसर दोनों खो चुके हैं। इस समग्र सत्य का बोध करानेवाला को
चला जरूर है, किंतु वह कभी भी हमारे पास पहुंच नहीं पायेगा।

ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करे ? अधिक-से-अधिक वह सिर्फ यही क:

छा खो बैठे। यहीं मुझे काफ्का की 'द फास्टिंग शोमैन'[1] कहानी
ड़ती हुई सम्पत्ति के प्रदर्शन के बीच, एक मेले में एक व्यक्ति
रता है। जब उसके प्रति जनता का आकर्षण कम होने लगता
मेले के एक उपेक्षित कोने में एक भारी पिंजड़े में रख दिया
न कुछ तमाशबीन यह आश्चर्य करते हुए कि ऐसा सुंदर और
ों ऐसे क्यों फेंका हुआ है, उसके पास पहुंचते हैं और उसमें भूख-
अनशनधारी को देखने लगते हैं। मरने से पहले उन तमाशबीनों
पास बुलाकर वह उसके कान में कहता है—"ऐसा मत सोचना
ा की अपार इच्छा शक्ति है, सच तो यह है कि मुझे वैसा खाना
ि, जो मेरी पसंद का हो।"

भूख' का न होना तो समस्या का समाधान नहीं है न? 'ट्रायल'
जो अभिसाक्ष्य प्रस्तुत करता है, उसके बीच सभी ओर से
हत व्यक्ति हतप्रभ खड़ा है। अब किधर?
कमात्र रास्ता उस अदृश्य की कृपा-याचना के अलावा क्या रह
ा वह कृपा सहज लभ्य वस्तु है? यही प्रश्न काफ्का के उपन्यास
य बिंदु है। 'ट्रायल' का नायक जोजेफ के० विवश होकर अदृश्य
र 'द कैसल' का नायक के० स्वेच्छा से उस कृपा की खोज में
ले में सर्वेक्षक के पद पर नियुक्त हुआ। अपना कार्यभार संभालने
हाड़ी पर स्थित किले के नीचे के गांव में पहुंचा तो उसे मालूम
ो सर्वेक्षक की आवश्यकता ही नहीं है। वह किसी प्रकार किले
संपर्क स्थापित करना चाहता है, किंतु सफल नहीं हो पाता।
ी क्लाम की रक्षिता फ्रिडा से वह प्रेम करता और उसके साथ
ी की कृपा से किले के भीतर के लोगों से संपर्क हो जाये, वह
ी होता। अजनबीपन से मुक्ति पाकर ग्रामवासियों में से एक
ह कृपा का पात्र बन सके, इसलिए वह एक स्कूल का ड्योढ़ीदार
कृपा अलभ्य ही रहती है। एक ग्राम में बार्नबस-बहनें ही थी जो
योंकि उनमें से एक ने किले के एक अधिकारी की रक्षिता बनने का
ा था। अंत में के० इन बहनों के संपर्क में आता है, इस आशा से
र बनकर ही वह किले की कृपा पा सके—यहां वह ईश्वर को
चलकर ही उसे पाना चाहता है, किंतु यह कृपा उसे तब भी

में, सेइकर एंड वारबर्ग, 1949

नहीं मिलती।

के० के लिए जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है कि किसी प्रकार 'कैसल' ले। उसे लगता है कि वह उसके योग्य नहीं, इसलिए वह सभी प्रकार उस योग्य बनाने के लिए प्रयत्न करता है। किंतु वह निरंतर निराशा के ही धंसता चला जाता है। इस योग्य बनने के प्रयत्न में, यात्रा के अंत की अपेक्षा कहीं अधिक दयनीय, रिक्त और हीन बन जाता है। वह न प्रति आत्महीन बनता है, बल्कि अपनी व्यक्तिगत तर्कशक्ति, बुद्धि औ से भी हाथ धो बैठता है।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न हो सकता है, तब क्या कोई रास्ता शेष ही न काफ्का हमें एक सूचीभेद्य अंधकार के बीच ही छोड़ देता है? और क्या ही मनुष्य का एकमात्र प्राप्य है। इसी प्रश्न को अलबेयर कामू ने 'होप इन द वर्क ऑफ फ्रैंज काफ्का' शीर्षक अपने निबंध मे उठाया है। कीर्के कथन को कि "सच्ची आशा के लिए आवश्यक है कि हम सांसारिक हत्या कर दें।" सामने रखकर उन्होंने समीकरण किया है कि 'कैसल' पहले अनिवार्य था कि काफ्का 'ट्रायल' लिखे। किंतु प्रश्न ज्यों-का-त्यो है कि क्या 'कैसल' यह भाव जगा सका जिसे 'सच्ची आशा' कहा गया कहना है कि काफ्का की रचनाओं में एक सूक्ष्म आशा सर्वत्र वर्तमान निरंतर सूचीभेद्य अंधकार में कूदने के लिए प्रेरित करती है। इस नि में, जिनका कोई अर्थ नहीं, विदीर्ण करनेवाली किसी एक आस्था के ही वह निरर्थक और मृगमरीचिका का ही हो. प्रेम का भाव अस्तित्व का लक्षण है। काफ्का अपने ईश्वर को नैतिक कृपालुता, तर्कपूर्णता, तथा समरस-समवादिता से अलग और रिक्त कर देता है, किंतु पुनः में गिर जाता है। उसकी दृष्टि में अपने को सम्मानहीन न बना सकने ही ईश्वरीय कृपा के लिए अपने को अयोग्य बनाने का मूल कारण है। और समर्पण का भाव वैष्णव प्रणति में भी दिखायी पड़ता है, किंतु स्वेच्छा से एक अनुग्रहशील 'हम भगतन के भगत हमारे' का विरुद ईश्वर के सामने था, जबकि काफ्का का समर्पण एक ऐसे विभु को था, है। इसी कारण आधुनिक चेतना की सजगता उसे 'ईश्वर' की अबूझ प्रति भी इतना तिक्त बना देती है कि वह उसके प्रति गहन विद्रोह के उठता है।

काफ्का के साहित्य की अनेकानेक व्याख्याएं संभव हैं। वह इ चित्रकार है, जिसकी कृतियों में आधुनिक युग अपने संपूर्ण विरोधाभ

प्रतिघात से संकुलित होकर उपस्थित हुआ है। उसकी कृतियों की पूर्णतः लौकिक और सामाजिक व्याख्याएं भी हो सकती हैं। और ये पूरी सटीक और तर्क-सम्मत भी होंगी इसमें शक नहीं, पर इतना सत्य है कि उसे भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक (मेटाफिजिकल) कहना कहीं अधिक संगत और उचित है, क्योंकि उसकी दृष्टि स्थूल बाह्य की अपेक्षा सूक्ष्म आंतरिक के अन्वेषण में ज्यादा प्रयत्नशील दिखायी पड़ती है।

जिन्हें मनुष्य अस्तित्व की सारी समस्याओं का समाधान किन्हीं बने-बनाये राजनीतिक फार्मूलों में मिल जाता है, उन्हें काफ्का अत्यंत निरर्थक ही नहीं, निकृष्ट भी प्रतीत हो सकता है। जैसा कि दकियानूसी यथार्थवाद के समर्थक हावर्ड फास्ट को वह लगा था। उसकी निंदा करते हुए उन्होंने लिखा—"तथाकथित नये आलोचकों और उनके ट्राटस्कीय दोस्तों के द्वारा निर्मित पूजागृह में काफ्का 'प्रतिक्रियावादी सांस्कृतिक गोबर की राशि' की सर्वोच्च चोटी पर विराजमान है।"

काफ्का के बारे में हावर्ड फास्ट के विचार तब के हैं, जब उन्होंने 'नैकेड गॉड' नहीं लिखा था। खैर, उनके विचार जो भी हों, काफ्का हर गॉड के सामने काफ्का ही रहेगा, चाहे वह यहूदियों का गॉड जेहोवा हो, या ईसाइयों का जस्ट गॉड हो, गॉड नंगा हो, या ढंका हो, पास हो या फेल हो, काफ्का के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि वह लाख प्रतीक्षा किया करे, इन मृत ईश्वरों में से किसी का भी संदेश उसके पास नहीं पहुंच सकेगा।

विसंगति और निरर्थकता के भीतर से खुशी का जन्म : अलबेयर कामू

"सिसिफस हमें दिखाता है एक ऊंचे आत्मविश्वास की ऐसी दुनिया जहां देवता उपेक्षित हैं और पत्थर को ढोते रहना लाजिमी होता है · पर यह भी क्या बुरा है ··· बिना किसी नियम के बने इस विश्व में यदि कुछ बंधा नहीं है तो कुछ भी सार्थक भी नहीं है । ··· इन अद्भुत संतुलित शब्दों में उस आदमी की अपनी जिंदगी भी अनुगूंजित है जो जिंदगी-भर विलासिताओं और गलत आरोपों से लड़ता रहा; लहू-लुहान होते हुए भी जिसके भोले चेहरे से मासूम मुसकराहट कभी मिटी नहीं और एक दिन वह अपनी फिलॉसफी का ही, जिसका शीर्षक था 'ऐब्सर्ड' यानी असंगति, स्वयं शिकार हो गया। नोबेल पुरस्कार मोटर दुर्घटना में बदल गया ··। तो क्या ? सब चलता है ···इस संसार में जिसका कोई नियम और नियामक नहीं···।"

'पहली चीज तो यह कि हमें निराश नहीं होना चाहिए। उन लोगों की बातें ध्यान से कभी न सुनें, जो गला फाड़कर चिल्ला रहे हैं कि यह दुनिया का खातमा है। सभ्यताएं इतनी जल्दी नहीं मरतीं, और फिर यदि यह दुनिया समाप्त होने को ही है तो क्या हुआ, इसके बाद दूसरे होंगे। जब मैं अलजियर्स में रहता था, हमेशा कुहरीले जाड़ों में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता रहता था, क्योंकि मैं जानता था कि फरवरी की किसी सर्द, कुंवारी, एकाकी रात में कांसुल घाटी के बादामवृक्ष सफेद-सफेद फूलों से ढंक जाएंगे।"

यह अंश 'ले अमादें' शीर्षक निबंध का है जिसे कामू ने 1940 ई० में लिखा था। पराजित फ्रांस की निराश, अपमानित, दिशाहारी जनता को उसने इस

निबंध के माध्यम से एक नया संदेश दिया। इसी तरह के सैकड़ों दूसरे निबंध भी उसने लिखे और संघर्ष और संकट में पड़ी जनता को एक नया मार्ग दिखाया। मार्ग दिखाया कहना शायद गलत होगा, आशा का संदेश दिया भी ठीक नहीं है, क्योंकि कामू मिथ्या आशावादी या मार्ग दिखानेवाला कोई आदर्शवादी नेता नहीं था। उसकी आशा एक अजीब तरह की आशा है और उसका मार्गदर्शन एक विचित्र प्रकार की सह-भुक्ति।

कामू का जन्म अल्जीरिया के मोंदोबी कस्बे में 7 नवंबर 1913 ई० को हुआ। माता स्पेनिश थी और पिता अलसेशियन वंशीय फ्रेंच थे। 1914 के युद्ध में वे सम्मिलित हुए और मार्न के युद्ध-क्षेत्र में मारे गये। पत्नी और दो बच्चों की खैर-कुशल का निरंतर समाचार जानने का उत्सुक यह लंबे कद और भूरी आंखों का आदमी एकाएक स्मृति की वस्तु बन गया। उस समय अलबेयर की उम्र सिर्फ एक साल की थी। मां की जन्मजात बीमारियां उसे कटे हुए गांव में, जहां डॉक्टरों का अभाव था, बड़ी क्रूर साबित हुई और उन्होंने उन्हें करीब-करीब 'बहरी और गूंगी' बनाकर छोड़ दिया। 'मां की मौन उपस्थिति, बीमारी से उदास आंखें, जीविका के लिए दमतोड़ मेहनत और बीच-बीच में इस नारी की असंबद्ध फुटकल बातें, उसके लड़के के लेखन पर निरंतर छाई रहीं।' विधवा मां अपने दोनों नाबालिग लड़कों को लेकर अलजियर्स आ गई और 'रू दे लीयां' के भीड़-भरे मुहल्ले में दो कमरों का एक मकान लेकर रहने लगी। बूढ़ी दादी के चाबुक के साथ बच्चों की शिक्षा की शुरुआत हुई। दादी बाद में यकृत के कैंसर से मरी। एक अपाहिज चाचा भी साथ रहते थे। इस दमघोंट वातावरण में भावुक अलबेयर जब रात गये लौटकर घर आता तो खिड़की पर बैठी मां उसके पदचापों को सुन न सकने के कारण वैसी ही बैठी रहतीं, पर अबोध अलबेयर अंधेरे में भी उस दुबली-पतली छाया को पहचानकर रुक जाता, वह अपने अस्तित्व के बारे में तब तक शायद ही सचेत हो सका था, पर मां का 'पाशविक मौन' उसकी आंखों को आंसुओं से भर देता। वह मां के सामने एक अजनबी की तरह टुकुर-टुकुर ताकता खड़ा रहता। अपनी जिंदगी की दीनता और गरीबी को मृत्युपर्यंत कामू भुला न सका।

"गरीबी में एकांत का अजीब बोध है। एक ऐसा बोध जो हर वस्तु को उसका सही मूल्य दे देता है। धन की एक खास मात्रा के बाद ताजा आसमान और तारों-भरी रात स्वाभाविक वैभव से लगते हैं। पर सीढ़ी के निचले हिस्से में यानी गरीबी में आसमान अपना सही मूल्य पा लेता है। एक सौंदर्य के रूप में जो अमूल्य है। गर्मी की रातें, टूटते तारों का रहस्य। लड़के के पीछे धंसता हुआ अंधेरा। गलियारा फैला था और यद्यपि उसकी टूटी हुई कुर्सी उलटने-उलटने को हो जाती, पर वह आंखें उठाकर इस अंधेरी रात की गुह्यता में से जाने क्या कुछ पीता

रहता।"

1918 ई० में कामू बेलकोर्ट के स्कूल में दाखिल हुआ जहां उसका परिचय अध्यापक लुई जर्मा से हुआ जिन्हें उसने बाद में अपना नोबेल पुरस्कार स्वीकार-भाषण समर्पित किया था। जर्मा के प्रोत्साहन और निरीक्षण में कामू वजीफे के लिए प्रयत्न करने लगा ताकि उसकी शिक्षा निर्विघ्न पूरी हो सके। 1923 ई० में दस वर्ष की उम्र में वजीफा पाकर वह लीसे में दाखिल हुआ और इसी के बल पर वह आगे चलकर अलजियर्स विश्वविद्यालय में प्रवेश पा सका जहां उसने 1932-36 तक दर्शन का अध्ययन किया। 15 वर्ष के कामू को पढ़ने-लिखने की अपेक्षा खेल-कूद में ज्यादा रुचि थी। फुटबाल उसका प्रिय खेल था। 'द स्टाप इन ओरान' में 'स्पोर्ट्स' का परिच्छेद उसकी इस रुचि का प्रमाण है। तैराकी में भी उसकी रुचि कम न थी···बस एक बार पानी में, और फिर उसकी पकड़ से बाहर होना मुश्किल। ठंडे नीले, अपारदर्शी जल को काटते हुए बढ़ना, फिर सहसा एक डुबकी, कानों में बजबजाहट की आवाज, नाक के कटकर अलग होने का अनुभव और मुंह में एक कड़ुवा स्वाद, पानी से पॉलिश की हुई बांहें, बाहर निकलें कि सूरज की किरण उन्हें छूकर सुनहली बना दें, फिर शरीर की सारी मांसपेशियों को थरथराते हुए पानी में पुनः डुबकी···शरीर पर से पानी का गुजरना, पैरों द्वारा संपूर्ण समुद्र के आपत्तीकरण का प्रयत्न और क्षितिज का लोप···यह है कामू की तैराकी।

17 वर्ष की उम्र में कामू पर तपेदिक का हमला हुआ। 1930 ई० का यह वर्ष उसके जीवन का नया मोड़ बनकर आया। तपेदिक क्लिनिक से लौटकर वह अपने परिवार से अलग होकर स्वतंत्र जीवन की खोज में निकल पड़ा। 1930 का अलजियर्स। ढाई लाख से अधिक आबादी का यह खुशनुमा शहर अफ्रीका और योरोपीय संस्कृति के समन्वय का केंद्र बन रहा था। एक ओर पराधीनता, गरीबी, जहालत और अंधविश्वास में घुटता अंधेरा महाद्वीप, दूसरी ओर विज्ञान, समृद्धि और आधुनिकता के दौर से गुजरता योरोप। कामू की धरती अफ्रीका की सीमाओं से घिरी थी, तो उसका आकाश योरोप की संस्कृति से आंदोलित था। इन दोनों छोरों को जोड़ने की अथक कोशिश में उसने जाने कितने रोजगार किये, कितने काम थामे और छोड़े। कामू की सबसे पहली पांडुलिपि जो सुरक्षित रह सकी है, वह 1932 की है। 1935 से वह डायरी लिखने लगा था जिसमें उसकी योजनाएं, असफलताएं और कामनाएं अक्षरों में बंद की गई हैं। 20 वर्ष की उम्र में उसने अलजियर्स के एक डॉक्टर की पुत्री सिमोन हिये से शादी की थी। एक आयात-निर्यात करनेवाली कंपनी में क्लर्क बना। शादी असफल सिद्ध हुई और उसे तलाक देना पड़ा।

1937 ई० में ओरान से दक्षिण सिदि-बेल-अब्बे में अध्यापन की नौकरी

मिली जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। उसी समय 1937 में उसने अपनी डायरी में लिखा—"एक बेतरतीब, जलता हुआ, वर्ग''' भविष्य के लिए बिल्कुल अनिश्चितता पर पूरी स्वतंत्रता कि मैं और अपने अतीत के बारे में खूब सोच सकूं।"

वैसे तो कामू 1934 ई० में ही कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य हो गया था, किंतु तब तक राजनीति में उसकी दिलचस्पी नहीं के बराबर थी। साम्यवाद के प्रति उन दिनों बुद्धिजीवियों में असीम ललक थी। वे दिन थे जब आंद्रे जीद सरकारी निमंत्रण पर रूस की यात्रा करते हुए मास्को पहुंचे थे और रेडस्क्वायर में उत्साहित जनता के सामने उन्होंने भाषण किया था, आंद्रे मालरो मनुष्य की प्रतिष्ठा के अपने सभी सपने को मुक्ति के लिए संघर्षरत कम्युनिस्टों में साकार कर रहे थे, लुई अरागां ने अतियथार्थवादी पद्धति को त्यागकर मार्क्स के यथार्थवाद को स्वीकार कर लिया था। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य के रूप में कामू का काम था अरबों में प्रचार, जिनकी उन्नति और समृद्धि के लिए वह शुरू से ही प्रतिबद्ध था। कुछ ही महीनों बाद सहसा अरबों के प्रति पार्टी की नीति में आकस्मिक परिवर्तन आया। हिटलर को दृष्टि में रखकर क्रेमलिन ने पियरे लावल के साथ जो समझौता किया वह कामू को निहायत निकृष्ट कोटि का अवसरवाद लगा और उसने पार्टी से इस्तीफा दे दिया, बदले में पार्टी ने उसे निष्कासित किया। मार्च 1936 की अपनी डायरी में कामू ने एक अद्भुत सूत्र लिखा **'ग्रेनर, साम्यवाद पर : मुख्य सवाल यह है कि क्या एक 'आदर्श' न्याय के लिए हमें बेहूदगियों (ऐब्सर्डिटीज) से समझौता करना ही चाहिए ? कोई जवाब देगा, 'हां।' बहुत सुन्दर। कोई कहेगा, 'नहीं'। ईमानदार !**

कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध-विच्छेद के बाद भी अरबों के प्रति कामू की शुभेच्छा में कोई फर्क नहीं आया। जून 1939 में 'अलजर रिपब्लिकेन' अखबार के प्रतिनिधि की हैसियत से वह अलजियर्स के दक्षिण पहाड़ी प्रदेश में घूमता रहा और वहां के कबीलों की आर्थिक स्थिति पर उसने विस्तृत रिपोर्ट भेजी जो उस पत्र में 5 से 15 जून के अंकों में धारावाहिक छपती रहीं। कबीलों के जीवन के इस सही बोध ने कामू के मन में अलजीरिया के प्रति एक नई प्रतिबद्धता को जन्म दिया। कम्युनिस्ट पार्टी से संबद्ध रहकर वह शायद ही ऐसा कर पाता। यही हाल उसकी रंगमंच के प्रति दिलचस्पी का भी हुआ। 1930 में कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक-कार्यक्रमों के द्वारा, जिनका उद्देश्य, बुद्धिजीवियों और श्रमिक-वर्ग के बीच घनिष्ठता बढ़ाना था, समूचे अलजीरिया में सांस्कृतिक केंद्रों, रंगमंचों और चलते-फिरते सिनेमाघरों की स्थापना हुई। कामू की प्रेरणा से 1935 ई० में अलजियर्स में ल थियत्रे दु त्रावेल का संगठन हुआ जिसमें 1936 में आंद्रे मालरो के 'द, तेंप दु मेप्रि' अभिशाप के दिन का नाट्य-रूपांतर प्रस्तुत किया गया।

बाद में दास्तोवस्की के करामाजोव बंधु तथा गोर्की के 'तलछट द लोवर डेप्थ्स' के नाट्य-रूपांतर अभिनीत हुए। उसी समय नाट्य संस्था के उद्देश्य को लेकर बहस चली कि इसका ध्येय सामाजिक क्रांति का संदेश ही हो या कि उच्चतर कला, जिसका स्रोत मानव मूल्य होते हैं। परिणामतः 'ल थियत्रे दु त्रावेल' को 'ला थियत्रे दु लेक्विपे' में बदलना पड़ा। और कामू के नाट्य-प्रेम ने उसे अपने मनचाहे वातावरण और प्रबंध में अभिनेता, निर्देशक और नाट्य रूपांतरकार की अविस्मरणीय भूमिका में खड़ा कर दिया।

और तब आया संहार और ध्वंस का खतरनाक दौर। सारा योरोप द्वितीय विश्वयुद्ध की लपटों में झुलस उठा।

"युद्ध शुरू हो गया है। कहां है यह युद्ध ? खबरों के बाहर और पोस्टरों से अलग इस बेहूदा चीज के निशान हम कहां देखना चाहते हैं। यह न तो नीले समुद्र के ऊपर नीले आसमान में कहीं लक्षित होता है, न तो यह मुलायम आवाज के साथ उड़ते पतिंगों में है न तो पहाड़ियों पर हिलते हुए सरो वृक्षों में ही। न तो अलजियर्स की गलियों में यौवन-भरी रोशनियों में। कैसा अजीब है यह कि किसी को खूंखार जानवर के घृणित प्रभाव में आमने-सामने रहना पड़े, और हम उसे पहचान न पायें। कितनी कम तब्दीली आई है। यह सही है कि कुछ ही दिन बाद खून और कीचड़ और उबकाई का दौर आएगा—किंतु आज तो कोई भी यह अनुभव करेगा कि युद्ध की शुरुआत शांति की शुरुआत जैसी ही लगती है।"

किंतु यह बेमानी शुरुआत धीरे-धीरे अपने सारे गंदे अर्थों को खोलने लगी। इससे तटस्थ रहना कामू को कायरता प्रतीत हुई। उसने अपनी डायरी में लिखा—"दूसरों की क्रूरता और बेहूदगियों से तटस्थ रहना कायरता है। हम यह नहीं कह सकते कि हम कुछ नहीं जानते। हाथीदांत की मीनारें टूट गई हैं। इसमें कूदना लाजिमी है, अकेले और दूसरों के साथ।" किंतु सक्रिय रूप से भाग लेने की तमन्ना निष्फल रही। लेफ्टिनेंट ने कहा—"मगर लड़का बहुत कमजोर और बीमार है।" युद्ध में अपना फर्ज अदा न कर सकने का यही हश्र नीत्शे और सार्त्र के साथ भी घटा था। इस घटना से उसे बड़ा धक्का लगा। उसने लिखा—"मैं छब्बीस का हूं। मेरे सामने जिंदगी है, और मैं जानता हूं कि मुझे क्या चाहिए। मैं भला-बुरा जानना और झेलना चाहता हूं—मैं यदि सैनिक के रूप में नहीं लिया जाता तो मुझे लगता है कि मैं अलग रहने के लिए अभिशप्त हूं। मैं कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में सामान्य मनुष्य की तरह जीना चाहता हूं और इसी भावना ने मुझे हमेशा शक्ति और उपयोगी होने की प्रेरणा दी है।"

उदास कामू कुछ कर न सका। अरब कबीलों पर लेख लिखने के कारण वह अलजियर्स से निकाला गया। बाद में कुछ समय ओरान में बिताकर पेरिस आ गया। वहीं वह 'पेरिस्वाई' अखबार के संपादन-विभाग में सम्मिलित हुआ। मई

1940 में इसी जगह उसने अपना मशहूर उपन्यास 'ल एट्रेंजर' (अजनबी) पूरा किया। तभी फ्रांस पर जर्मन नाजी सेना का हमला हुआ। पेरिस खाली कर दिया गया और वह पेरिस्वार्ड के संपादक-मंडल के साथ लीयों में आ गया जहां उसने फ्रांसिन फारे से 1940 में विवाह किया और 1945 में इनके जोड़ वां बच्चे कैथरीन और ज्यां का जन्म हुआ। 1943 में जर्मन आक्रामकों के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध आंदोलन का वह सक्रिय कार्यकर्ता बना। इस आंदोलन का प्रसिद्ध रण-भेरी पत्र 'काम्बैट' जो पहले से ही प्रकाशित हो रहा था, 21 अगस्त 1944 को कामू के नाम के साथ उसके संचालन में निकलने लगा। इसी समय कामू आंद्रे मालरो और रेने लेनो के संपर्क में आया। बाद में रेने की गिरफ्तारी और फांसी ने कामू को बुरी तरह झकझोर कर रख दिया। लेनो की मृत्यु के बाद प्रकाशित उसके कविता-संग्रह की भूमिका में कामू ने लिखा—"30 साल की जिंदगी में कोई भी मौत मेरी आत्मा को इस तरह झिंझोड़ नहीं सकी, जैसी लेनो की।"

कामू प्रतिरोध आंदोलन में पूरी तरह जुट गया। फ्रांस को मुक्ति मिली। सार्त्र ने कामू को एक पत्र में लिखा—"1945 में हमें कामू, ल एट्रेंजर का लेखक मिला था, और अब प्रतिरोध आंदोलन का सक्रिय योद्धा। और जब हम रणभेरी पत्र 'काम्बैट' के संपादक की तुलना मीरसाल (ल एट्रेंजर के नायक) से करते हैं—हम अनुभव करते हैं कि वह दोनों ही और दोनों से अलग एक दूसरा भी हमेशा रहा। यह स्पष्ट विरोधाभास हमें अपने और जगत् को समझने का नया ज्ञान दे जाता है कि तुम स्वयं में एक उदाहरण थे। तुमने इस युग के संघर्षों को अपने भीतर झेला और उनके परे पहुंचे अपूर्व उत्साह के कारण जिसके द्वारा तुमने यह सब किया। तुम सच्चे व्यक्ति थे—तुममें सभी गुण और सुअवसर एकत्र थे जिन्होंने महत्ता का भाव, सौंदर्य के प्रति उत्कट प्रेम, जीवन के प्रति उल्लास और मृत्यु का अर्थ इकट्ठा खोल दिया। हम तुम्हें कितना प्यार करते थे।"[1]

इस जमाने में कामू ने फ्रांस की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति, अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा नवमुक्त राष्ट्र के नये सपनों और योजनाओं पर अनेक लेख लिखे जिनमें से कुछ बाद में 'एक्चुएल' नाम से पुस्तकाकार तीन खंडों में छपे। प्रतिरोध आंदोलन के समय की एकोद्देश्यता समाप्त हो रही थी। कांबेट धीरे-धीरे कम्युनिस्ट प्रभाव में रंगता गया, लाचार कामू को उससे अलग होना पड़ा। कामू मार्क्सवाद की विसंगतियों के प्रति काफी खीझ उठा था, खुलेआम मार्क्सवाद के मिथक और धारणाओं पर प्रहार शुरू किया। ध्येय की सफलता साधन के औचित्य की गारंटी है—जैसी धारणाओं को उसने अमानवीय कहकर अस्वीकार किया। उसने मार्क्सवाद की निर्दिष्टतावादी ऐतिहासिक पद्धति को भी गलत

1. ल तेम्प मादर्न, अगस्त 1952, पृ० 345-46

बताया, परिणामतः कम्युनिस्ट प्रेस ने उस पर चौतरफा हमला बोल दिया। 1947 तक उसके और सार्त्र के विचारों में काफी समानता थी। सार्त्र ने रूस और अमेरिका जैसे दो शक्तिशाली शिविरों के बीच स्थित फ्रांस के लिए समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की अनिवार्यता पर जोर दिया था पर कम्युनिस्ट पद्धति का विरोध किया था। सार्त्र ने इसी उद्देश्य से रासेम्बुलमेंट दिमाकेतिक रिवोलूशनेर के माध्यम से श्रमिक वर्ग के संगठन पर जोर दिया ताकि फ्रांस में राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रम अकम्युनिस्ट-पद्धति से पूरे किये जाएं। किंतु यह योजना सफल नहीं हुई, लाचार सार्त्र कम्युनिस्टों की ओर झुके ताकि अपनी धारणाओं को पूरा करने और उनमे सहयोग पाने के लिए उन्हें प्रभावित किया जाये। कामू कम्युनिस्टों के साथ किसी भी प्रकार के समझौते को खतरनाक कदम मानता था, परिणामतः दोनों मित्रों में भयंकर विवाद छिड़ गया। सार्त्र ने कामू को प्रतिक्रियावादी बोर्जुवा कहा, 'ल ओमे रिवोल्त' की व्यक्तिगत स्तर पर आक्रोश-भरी समीक्षा की, किंतु कामू अपने विचारों पर पूर्णतः अडिग रहा। कामू सभी तरफ से कटकर अपने लेखन में जुट गया और उसने नाटक ल मैलेतेंदु (1944) तथा उपन्यास ल पेस्ट (1949) प्रकाशित कराये।

1949 में यक्ष्मा का पुनः आक्रमण हुआ और कामू दो साल के लिए बिल्कुल बेकार-सा हो गया। 1951 से 56 के दौरान उसने कोई महत्त्वपूर्ण कृति नहीं लिखी। 1953 में वह पुनः रंगमंच की ओर जरूर आकृष्ट हुआ।

1957 में उसे नोबेल पुरस्कार मिला। इस सम्मान से वह बहुत प्रसन्न हुआ, इसमें शक नहीं; किंतु पुरस्कार ने जो राजनीतिक विवाद और कड़ुवाहट जगाई, उससे वह दुःखी भी कम नहीं हुआ। पेरिस उसके लिए असह्य हो चुका था, लेहाजा वह अपने पुराने मित्र कवि देनेकार के निकट देहात के लोरमारिन गांव में मकान बनाकर रहने लगा। 1959 में आंद्रे मालरो के कहने पर, जो फ्रांस की सांस्कृतिक गतिविधियों के शासनिक अधिकारी थे, उसने एक प्रयोगात्मक थियेटर का संचालन स्वीकार किया। 4 जनवरी 1960 को मोटर दुर्घटना में 47 वर्ष की अवस्था में देहांत हुआ। सुप्रसिद्ध आलोचक मोरिस ब्लांको ने उसकी मृत्यु पर लिखा—"मरते हुए तुर्गनेव ने ताल्स्ताय के पास एक पत्र में लिखा था कि आपका समसामयिक होने से मैं अपने को कितना भाग्यशाली समझता हूं।" मुझे लगता है कि कामू की मृत्यु ने हमारे भीतर किसी गोपनीय स्तर में यह बोध जगाया है कि हम भी धीरे-धीरे मर रहे हैं और ऐसी स्थिति में कामू का समसामयिक होना सच ही कितनी भाग्यपूर्ण बात थी।[1]

कामू पर सैकड़ों निबंध और संस्मरण लिखे गये। 'कामू' शीर्षक पुस्तक की

1. Camus, Germain Br'ee

लेखिका जर्मा ग्रे के अनुसार कामू पर 1957 ई० तक लिखी गयी पुस्तकों और निबंधों की संख्या 549 है। यह पूरी सूची उन्होंने अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में दी है।[1]

"अब हम अपनी समस्याएं खुद नहीं चुनते, समस्याएं एक के बाद एक करके हमें चुनती हैं। हमें इस प्रकार चुने जाने को स्वीकार करना चाहिए।" कामू के चिंतन को एक निश्चित दिशा देने वाली यह महत्त्वपूर्ण मान्यता है बल्कि इसे बोध कहना चाहिए जो मनुष्य और उसके परिवेश के बीच नाना कारणों से उत्पन्न संघर्ष और संकट के बीच, उत्पन्न होता है। कामू ने इन संघर्षों के बीच, सारी मुक्ति और पीड़ा के बीच, अपनी व्यक्तिगत भावावेशमूलक पद्धति के द्वारा कुछ चिंतनात्मक उपलब्धियां अवश्य अर्जित कीं, किंतु उसकी रचनाओं—नाटकों, उपन्यासों या निबंधों में किसी बंधी-बंधाई तर्कपूर्ण विचार या दर्शन-पद्धति की खोज करना व्यर्थ होगा। क्योंकि वह इस प्रकार के स्वभाव और संस्कार का व्यक्ति था, जो निश्चित परिपाटियों के ढांचे में शायद ही कभी बंध पाते हैं। वह निश्चित परिपाटियों, मतवादों, विचारों और पूर्वाग्रहों द्वारा उत्पन्न मकड़ी के जाले में फंसने से हमेशा ही कतराता रहा।

जीवन विसंगति का पर्याय है। इसलिए इस जगत् में सिर्फ एक ही गंभीर दार्शनिक समस्या है—वह है आत्महत्या। यह समस्या उनके लिए तो और भी अधिक गंभीर और महत्त्वपूर्ण हो जाती है जो जीवन के अर्थ को समझने के लिए संकल्पित हैं। आत्महत्या के बारे में सोचने वाला यह जानता है कि जीवन उसके लिए काफी अनबूझ और भारी है। ऐसा हर सचेत व्यक्ति सोचता है, फिर भी लोग जीवन जीते रहते हैं। क्योंकि यह एक आदत है। हम सोचने की आदत डालने के पहले जीवन जीने की आदत के वशीभूत हो जाते हैं। और शरीर के निर्देशों पर चलते रहते हैं। इस विसंगति के बचने के दो तरीके हैं, आशा और आत्महत्या।

दो विश्वयुद्धों के बीच के अंतराल में लटकता हुआ योरोपीय जीवन-मूल्यों के विघटन और अनास्था के भावों से पूरी तरह आंदोलित था। इसी भाव की तीव्र व्यथा से प्रेरित होकर कामू ने कहा कि उन सबके लिए, सिर्फ उन्हें छोड़कर जो प्रभु के कृपा जगत् में है, आश्वस्त हैं, यह जीवन तर्कहीन और विसंगत है। सचेत मस्तिष्क की सारी चेष्टाएं सुख और आनंद के भाव को निरंतर नकारती हैं। आशा और निराशा के दो अतिवादी छोरों में बंधा जीवन सिर्फ एक ही बोध उत्पन्न

1. ल ओम रिवोल्त, पृ० 15

कर सकता है, वह है विसंगति का बोध (ऐब्सर्डिटी)। तर्क-सम्मत विचारणा और तथात्मक जगत् के बीच कहीं कोई संबंध नहीं है। यह अलगाव हमें आत्महत्या करने के लिए प्रेरित कर सकता है। चाहे यह आत्महत्या मानसिक हो या शारीरिक। अस्तित्व एक बनी-बनायी आदत का अनजाने निर्वाह मात्र है, आत्म-हत्या इस बात का सबूत है कि आदमी इस आदत के वशीभूत रहना नहीं चाहता। कामू आत्महत्या के पीछे निहित भावना को, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रमाणित करने के प्रयत्न का ही नाम है, सराहता है, किंतु आत्महत्या को वह निष्प्रयोजन इसलिए मानता है क्योंकि इससे विसंगति का कहीं कोई समाधान नही मिलता। आत्महत्या एक महत्त्वपूर्ण समस्या जरूर लगती है क्योंकि जीवन के बारे में गहराई और गंभीरता से सोचने वाला हर व्यक्ति इस बिंदु से टकराता है। किंतु देर-सवेर यह सत्य प्रकट हो ही जाता है कि विसंगति का अस्तित्व जितना मनुष्य से संबद्ध है, उतना ही इस विश्व की रचना से भी। अतः यह जानकर चलना चाहिए कि विसंगति का कहीं भी कोई इलाज नहीं है। इसलिए स्थितिप्रज्ञ भाव से इस अपरिवर्तनीय स्थिति के प्रति सचेत रहने के अलावा हम कुछ कर नहीं सकते।

तो विसंगति एक अबूझ प्रक्रिया है। परिणाम है मीरसाल, एक सीधा-सादा इंसान, ला एट्रैंजर का नायक जिसका जीवन इस बात का प्रमाण है कि जीवन की समस्याओं का कोई तर्कपूर्ण अर्थ नही होता, मीरसाल एक अनैच्छिक हत्या कर बैठता है, किंतु समाज उसे उसके इस अपराध के लिए दंड नहीं देता, बल्कि इसलिए कि वह अपनी सफाई में वे शब्द नहीं कहना चाहता जिनमें उसका कतई विश्वास नहीं है। मीरसाल का सबसे बड़ा अपराध है कि वह जड़मूल से ईमानदार है। अपने व्यक्तिगत जीवन में, मां की मृत्यु पर अपने दृष्टिकोण में, अपनी प्रेमिका के प्रति, अपने परिचितों से अपने व्यवहार में उसने उन भावनाओं को रखने का बहाना कभी नहीं किया जो उसके मन में नहीं थीं। और जो नहीं हैं, उन्हें कृत्रिम रूप से पैदा करना भी वह बेईमानी मानता था। जज, जो एक धार्मिक और दयालु व्यक्ति है, बड़ी प्रसन्नता से उसकी सजा कम कर सकता है बशर्ते मीरसाल अपने पाप के लिए पश्चात्ताप करे। वह आंखों में करुणा के आंसू भरकर क्रास की ओर इशारा करके संकेत भी करता है कि मीरसाल कुछ तो कहे। पर मीरसाल जज की इस मुद्रा से चौंक उठता है, और नम्र आश्चर्य से टुकुर-टुकुर ताकता रह जाता है। तभी सरकारी वकील निष्कर्षात्मक स्वर में कहता है—"न्याय परिषद् के भद्र लोगो, यह है सामने वह व्यक्ति जो अपनी मां की मृत्यु के दिन, स्वीमिंग पुल गया, एक लड़की से मुहब्बत की, एक कामुक फिल्म देखने जा रहा था—मैं इतना ही कहना चाहता हूं। अलम्।"[1]

1. कामू, द आउटसाइडर, अनुवादक स्टुअर्ट गिलबर्ट, हैमिश हेमिल्टन 1946, पृ० 9

मीरसाल की जिंदगी का यह 'अलम्' अंत तक उसे निरर्थक ही लगता रहा। निरर्थकता के बीच अपनी कालकोठरी में पादरी के अंतिम धर्म-उपदेश के समय उसने गुस्से से उसका कालर खींचते हुए कहा—' सभी, इसी तरह अंत में मरने के लिए अभिशप्त हैं। उसकी भी बारी ऐसे ही आयेगी। और इससे क्या फर्क पड़ता है कि चाहे हत्या का अभियोग लगाकर मरो, कि यह कि वह मां के अंतिम संस्कार के समय रोया नहीं ?"

मृत्यु के पहले की अंतिम झपकी जरूर उसकी चेतना को एक नया बोध दे जाती है कि कुछ देर बाद फांसी के तख्ते की ओर जाते वक्त वह हजारों दर्शकों की आंखों के सामने होगा और वह सोचता है कि—"**यद्यपि वह एक अवास्तविक जीवन जो रहा था, पर उसी में ससक्त और खुश था, खुश वह अब भी है क्योंकि अब वह जो कुछ हो रहा है उससे उसे कम अकेलेपन का अनुभव होगा···।**"

जीवन की अवास्तविकता में एक अजीब तरह की "संसक्ति और मृत्यु की दुर्निवारता में भी विशिष्ट खुशी"—यही कामू की बिसंगति की कुंजी है। इसी बात को कुछ और विशिष्ट स्पष्ट ढंग से उसने 'सिसिफसोपाख्यान' में व्यक्त किया है।

देवताओं ने सिसिफस को अंधघाटी में एक भारी चट्टान को पहाड़ी के नीचे से ऊपर चोटी तक पहुंचाने का दंड दिया था, जहां पहुंचते ही चट्टान अपने भार से पुनः नीचे ढुलक जाती थी। सिसिफस को यह दंड देवताओं ने काफी सोचकर दिया होगा क्योंकि निरर्थक श्रम से अधिक कठोर दूसरा दंड क्या हो सकता है। ऐसोपस की लड़की एजिना का जूपिटर ने अपहरण किया। ऐसोपस की सिसिफस ने मदद की, परिणामतः यह दंड। सिसिफस बिसंगति-दर्शन का प्रतिनिधि नायक है। देवताओं के प्रति नफरत, मृत्यु से घृणा, जीवन के प्रति संसक्ति ने उसे वह अनिर्वचनीय दंड दिया जिसके पाश में बंधा आज भी 'व्यर्थ के श्रम' के पाटों के बीच अस्तित्व विदीर्ण हो रहा है।

मृत्यु के नजदीक पहुंचकर सिसिफस, एक बार अपनी पत्नी के प्रेम की परीक्षा के लिए, बड़ी प्रशंसा करके एक महीने के पैरोल पर रिहा हुआ। किंतु उसने पुनः एक बार धरती का चेहरा देखा, धूप और पानी और रोशनी का स्वाद मिला, गरम चट्टानों और समुद्र का स्पर्श हुआ तो पुनः उस सर्द अंधेरी घाटी में लौटने की बात ही भूल गया। मर्करी आया, और उसने उनका गरेबां पकड़कर, खुशियों से अलग कर उसे पुनः उसी अंधघाटी में ला पटका। इस कहानी के बीच कामू एक स्थान पर लिखता है—"**बिसंगति और खुशी एक ही धरती की जोड़वां संततियां हैं। वे अविभाज्य है। सिर्फ यह सोचना कि खुशी बिसंगति की खोज का परिणाम है ठीक नहीं, क्योंकि खुशी से भी बिसंगति की उपलब्धि हो सकती है।**" चार्ल्स रोलो ने ठीक ही लिखा है—कि "बिसंगति पर सार्त्र, मालरो आदि ने भी

विचार किया पर कामू की धारणा उनसे भिन्न है। कामू के लिए विसंगति निराशा का कारण नहीं, बल्कि एक ऐसा विरोधात्मक साधन है जो खुशी को प्रेरणा देता है। उसकी दृष्टि में हत्या, मौतें और विसंगतियां जो उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण समस्याएं थीं, वस्तुत: जीवन के मूल्य को बढ़ाती हैं और वे मनुष्य को अपनी जिंदगी को और भी अधिक गहराई से जीने के लिए आमंत्रित करती हैं।" (द अटलांटिक, मई 1958, पृष्ठ 27-33)। कामू ने 'होप ऐंड ऐब्सर्ड इन द वर्क आफ् फ्रांज काफ्का' में इसे और भी अधिक बारीकी से उपस्थित किया है।

'कालिगुला' में भी विसंगति के संदर्भ में इसी धारणा को एक नयी भावभूमि पर उपस्थित किया गया है। यह सोचकर कि जीवन निरर्थक है, सम्राट् ने सोचा कि वे विसंगति के मसीहा बनकर संसार को पहले से बेहतर बना सकते हैं। अत्याचार और जुल्म का चक्र चल पड़ता है। छल, प्रवंचना और परपीड़न के लिए पुरस्कार मिलता है, ईमानदारी, निरपराध और मासूमियत के लिए दंड। कालिगुला अपने निर्मम व्यवहारों से लोगों में यह बोध जगाता है कि जिंदगी विसंगति और अर्थहीनता का पर्याय है। कामू को कालिगुला के कृत्यों की निंदा करने के लिए कोई तर्कपूर्ण आधार नहीं दीखता। जनता क्रांति करती है और कालिगुला समाप्त हो जाता है, शायद इसलिए कि उसके कार्य विसंगति की सीमा पार कर रहे थे।

इस रचना में विसंगति से बचने के लिए विद्रोह का समाधान बताया गया है। कामू ने लिखा है कि "**विसंगति का सही बोध मेरे अंदर तीन सत्यों को जन्म देता है—जीवन के प्रति मेरी संसक्ति, मेरी स्वाधीनता और मेरा विद्रोह भाव। अपनी चेतना की सक्रियता के बल पर मैं आत्महत्या के भाव को जीवन की एक पद्धति में डाल लेता हूं।" द मिथ आव सिसिफस, पृ० 55।**

आदमी की सृष्टि को दो रूपों में अस्वीकृत करता है—पराभौतिक रूप में और राजनैतिक रूप में। पराभौतिक अस्वीकृति हमें जगत् से विमुख करके 'ईश्वरीय कृपा' की याचना का पाठ पढ़ाती है जो अंततः पलायन है। राजनैतिक अस्वीकृति क्रांतियों को जन्म देती है, जो नरमेध के पाप से कभी बरी नहीं हो सकतीं। कामू इनके बीच का मार्ग खोजना चाहता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पालवेस्ट ने लिखा है—"इन धारणाओं से कामू ने एक ऐसा दृढ़ मानवतावादी निष्कर्ष निकाला जो एक तरफ रोमैंटिक रहस्यवादी आत्मवंचना से बचना चाहता है तो दूसरी ओर क्रांतिकारी अमानवीयता से। न तो आत्मवंचना और न तो नरमेध, जो प्रत्येक क्रांति का अनिवार्य परिणाम होता है, जीवन को किसी भी रूप में कम विसंगत या अर्थहीन बना सकता है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कुछ ऐसा जरूर है जो विसंगति से जूझना चाहता है, यद्यपि कामू इसके आधार पर कोई पराभौतिक या आध्यात्मिक निर्णय नहीं लेता और यही जीवन जीते रहने का

सबल कारण बन जाता है।"[1] सामान्य से सामान्य व्यक्ति सचेत विसंगत जीवन जी सकता है। कामू को इस विसंगत व्यक्ति की मानवता में बहुत विश्वास है। उसके विसंगत व्यक्ति (ल ओम अवसर्द) का भी एक अंतर्निहित सदाचारशास्त्र है। जर्मा ब्रे के शब्द "विसंगत व्यक्ति सभी प्रकार के घर मोहभाव (नॉस्टैलजिया) से मुक्त होता है। वह कैदखाने की दीवारें और कामू के विसंगत दर्शन को स्वीकार कर चुका है। वह पूर्ण संसक्ति के साथ जीवन जीना चाहता है, वह मृत्यु का शत्रु है। क्योंकि इसी में मानवता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का बोध छिपा है, वह जगत् के प्राकृतिक कृत-चक्र का विरोधी है जिसमे जीवन और मृत्यु अपने अर्थ खो चुके हैं। वह दैवी शक्तियों का भी, यदि कोई होती हैं तो, विरोधी है। (कामू—पृष्ठ 204) विसंगति व्यक्ति की यह कल्पना कामू को सार्त्र और मालरो से बिल्कुल भिन्न कर देती है। विसंगतियों के प्रति हमारे विरोध का आरंभ उस चेतना के जागरण के साथ होता है जो इसके द्वारा आक्रांत होना अथवा अवरुद्ध हो जाना नही चाहती। यह एक मानसिक स्थिति है। मालरो ने विसंगति के स्पष्टीकरण में मृत्यु को रेखांकित किया, कामू का जोर जीवन पर है। सार्त्र ने आकस्मिकता और घटना संयोग (टोटल कांटिजेंसी) के भीतर जोर पूर्ण स्वतंत्रता पर दिया, कामू ने जीवन की पारदर्शिता (लूसिडिटी) पर दिया।[2]

विद्रोह भाव का यह दर्शन कामू के व्यक्तित्व में जर्मन आधिपत्य के विरुद्ध प्रतिरोध आंदोलन के दिनों में सक्रिय अनुभवों के द्वारा रासायनिक ढंग से जज्ब होता गया। कामू यह मानता है कि मनुष्य में स्वभावतः उच्चाशयता (नोब्लिटी) होती है। विद्रोही व्यक्ति अपनी विरोधी परिस्थितियों में इस जगत् को अस्वीकार करके अपनी उच्चाशयता को उपलब्ध कर लेता है। प्राकृतिक कृत-चक्र की निर्ममता और उसके प्रति विद्रोह की चेतना का चित्रण उसने अपने उपन्यास प्लेग (ल पैस्त) में बड़ी खुशी से किया है। उत्तरी अफ्रीका का प्रसिद्ध शहर ओरान भयानक प्लेग की गिरफ्त में आ जाता है। कुछ इससे जूझते है, कुछ माथा टेककर इसे अंगीकार कर लेते हैं। गलियां चूहों से भरी हैं। समुद्र का रास्ता बंद है। शहर आपदाओं की कैद बनकर रह गया है। पादरी पैनेलो के लिए प्लेग पाप का परिणाम और ईश्वरीय दंड का रूप है। वह यही सोचता और इसका शिकार होता है। तारो के लिए यह नरमेध की प्राकृतिक इच्छा का एक रूप है। ऐब्सर्ड नायक डॉ० रीओ यह समझ नहीं पाता कि प्लेग से मरते अबोध शिशु का पाप क्या है, अथवा जो इससे बच गये हैं क्या सचमुच पुण्यात्मा हैं? वह मानता है कि यह तर्कहीन, बुद्धिहीन प्रकृति की विवेकशील उग्रता के अलावा और कुछ नही है

1. माडर्न नॉवेल, पृ० 171
2. जर्मा ब्रे, कामू, पृ० 211

जिसका एकमात्र उत्तर है उसकी क्रूरता और भयानकता की बिना परवाह किये रोगियों की निरंतर सेवा और सहायता। यही डॉ० रीओ का विद्रोह है क्योंकि वह मानता है—"सिर्फ मानवीय संकट के खिलाफ संघर्ष करने में ही मनुष्य अपनी उच्चाशयता को उपलब्ध करता है।" डॉ० रीओ का यह विश्वबंधुत्व किसी रूमानी आदर्श से प्रेरित नहीं है। एक रात को डॉ० रीओ और तारो प्लेग-ग्रस्त शहर से अलग होकर समुद्र में नहाते हैं और 'विशिष्ट खुशी' को उपलब्ध करते हैं, जिसका स्रोत पिछले संघर्ष के दिनों उनसे पूर्णतः कट गया था। उनकी यह खुशी किसी प्रकार की पलायनवादी आशा-प्लुति नहीं है, जो ईसाई अस्तित्ववादियों, कीर्केगार्द आदि में झलकती है। वैसे कामू का पूरा विश्वास था कि 'व्यवहार मृदुता, सृजन, कर्म, मानवीय सदाशयता की भावनाएं एक-न-एक दिन अपना स्थान अवश्य लेंगी।' इसी कारण बहुत से लोग कामू को शुद्ध अस्तित्ववादी मानने में हिचकिचाते हैं। सार्त्र ने इसी कारण उसे अस्तित्ववादी न कहकर नैतिकतावादी कहा था, जो सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी नैतिकतावादियों की परंपरा की कड़ी है।

कामू को इसकी चिंता नहीं थी कि लोग उसे क्या कहते हैं क्योंकि वह तो दॉस्तोवस्की के इस कथन के प्रति पूर्णतः प्रतिश्रुत था कि—जिंदगी के अर्थ को प्यार करने के पहले हमें जिंदगी से प्यार करना सीखना चाहिए।

कामू के ऊपर सार्त्र का दूसरा आरोप यह भी था कि—"उसे मनुष्यता से तो प्यार था, पर अविश्वसनीय व्यक्तियों के माध्यम से।" इसी को स्पष्ट करते हुए पाल वेस्ट ने लिखा--कामू का जिंदगी के प्रति प्रेम काफी चुनाव पसंद ढंग का है। उसने कहानी और उपन्यास के नायकों के रूप में काफी पुराने, आदिम, कृषक या चरवाहों अथवा आदर्शात्म रूप (आर्चेटाइप) के वर्गगत चरित्र चुने। क्या इनके माध्यम से वह विश्वसनीय जीवन चित्रित कर सकता है?[1] असल में पाल वेस्ट ने आधुनिक मशीनी जीवन के ऊपरी रूप को ही कामू के विसंगति दर्शन का आधार मान लिया है। विसंगति का भाव मानव की मानसिक स्थिति से संबद्ध है, जिसका सही मनोवैज्ञानिक रूप बहुरूपिये आधुनिकतावादी व्यक्तियों में नहीं, सहज और पारदर्शी रूप से जीवन से संसक्त विद्रोही लोगों में दिखाई पड़ता है, चाहे वे ऊपर से वर्गगत चरित्रों की तरह और पुराने ढंग के ही क्यों न दिखते हों। कामू वस्तुतः विद्रोह का समर्थन करते हुए भी उसके चरम रूप यानी नरमेध से घृणा करता है। उसका विद्रोह बहुत कुछ व्यक्तिगत धरातल का मानसिक विद्रोह है जिसके कारण अंतःसुप्त मानवीय गुणों की उपलब्धि अपने-आप हो जाती है। कामू को प्राचीन ग्रीक देवताओं में सर्वाधिक आकर्षक और प्रेरणादायक नेमिसिस लगती थी, जो

1. मॉडर्न नॉविल, पृ० 175

'प्रतिकार की नहीं सहनशीलता की देवी है। उदाहरण के लिए एक खास क्षण-विशेष में डॉ० रीओ को लगता है कि वह और पादरी वस्तुतः एक ही पक्ष में हैं। वह है दुखी बीमारों का पक्ष। पादरी पाप का स्मरण करते हुए ईश्वरीय कृपा के बल पर रोगी को राहत देना चाहता है, यही तो अपने ढंग से डॉक्टर रीओ भी कर रहा है। हालांकि पाठक जानता है कि दोनों की मान्यताएं पूर्णतः विरोधी हैं, पर डॉ० रीओ जो विसंगति भाव और विद्रोह दर्शन की उपज हैं, दोनों अनमेल कोटियों को मिलाते हुए आसानी से कह सकता है—"हम सब-कुछ अच्छा और ठीक ही करेंगे, इसका तो विश्वास नहीं, पर इतना तो हम कर ही सकते हैं कि ऐसा कुछ न करें जो इस यातना को बढ़ाये और इसे झेलने की सहनशीलता को विभाजित कर दे। इसके लिए हमें, इस निश्चित यातना को छोड़कर, बाकी सब-कुछ के प्रति सहनशील होना ही पड़ेगा।"

दो राज्यक्रांतियों और दो विश्वयुद्धों के पीड़ा-बोध का चिंतक: बर्दिएॅफ

निकोलाई बर्दिएॅफ पिछली अर्धशताब्दी का एक बहुत ही महान् चिंतक था, जिसकी रगों में इंसानी जज्बात कूट-कूटकर भरे हुए थे। जार-कालीन रूस ने उसे साइबेरिया में दंड-शिविर में रखे जाने की धमकी दी, मुकदमा चला ··· नाना कष्टों के भीतर गुजरते इस व्यक्ति को अंत में रूस के बोलशेविकों ने देश-बहिष्कृत कर दिया, फिर भी जब भी जहां भी, चाहे जर्मनी में या उसके प्रावास पर क्लैमार्ट में या फिर ऑक्सफोर्ड के ब्राड स्ट्रीट में कोई उससे मिला, एक हसमुख, व्यंग्य-विनोद से भरे इंसान से ही मिला जो सांप्रतिक समस्याओं के प्रति निरंतर जागरूक था। और पता नहीं उसके भाषणों के पीछे कौन-सी शक्ति थी, यद्यपि वे भाषण बातचीत के ढर्रे से भिन्न नहीं हुआ करते थे, तो भी उसने पहले जर्मनी, फ्रांस और इग्लैंड को अपनी वक्तृता से अभिभूत किया और अंततः अमेरिका पर भी उसका जादू हावी हो गया ······

"1942 के जाड़े के दिनों में मेरा एक संगीन 'ऑपरेशन' हुआ। मुझे एक 'नर्सिंग होम' में करीब छह हफ्ते रहना पड़ा। पीड़ा और दर्द के कारण मैं अंगों को हिला-डुला भी नहीं सकता था। सबसे अधिक परेशानी मुझे आंशिक बेहोशी के वीभत्स अनुभव के कारण हुई। मैं पूर्ण सचेत था किंतु मेरे शरीर का अधिकांश अचेत था। मेरे बाहरी शरीर और आंतरिक 'मैं' के बीच एक अभेद्य दीवार खड़ी हो गयी थी। मैंने इसे आत्म-अलगाव के उस त्रास के रूप में अनुभव किया जो आज मानव अस्तित्व के साथ एक अजीब दुःस्वप्न की तरह जुड़ गया है, एक ऐसा दुःस्वप्न

जिसमें मनुष्य हमेशा अपने को अपने 'मैं' से पूर्णतः अलग पाता है।"[1]

अनुभव की गहरी वेदना में रंगी हुई ये पंक्तियां, निकोलाई बर्दिएँफ की हैं, जो नियति का एक ऐसा पूर्व-नियोजित माध्यम था जिसके व्यक्तित्व में तीन महाद्वीपों की चिंतन-परंपरा, दो राज्य-क्रांतियों का संघर्ष और दो विश्वयुद्धों की पीड़ा एकत्र अभिव्यक्ति पा सकी। निकोलाई बर्दिएँफ का जन्म रूस के कीव नगर में 1874 ई० में हुआ। बर्दिएँफ-परिवार एक उच्च सामंती-वंश की शाखा था, जो किसी-न-किसी रूप में रूस के राजवंश से जुड़ा हुआ था। पितामह एम० एन० बर्दिएँफ ने 1814 ई० में कुलमस्क के युद्ध में पराजित रूसी सेना को पुनः संगठित करके नैपोलियन को शिकस्त दी थी। वे काफी जिद्दी और तुनकमिजाज भी थे; पर हमेशा ही आदर्शों पर दृढ़ रहनेवाले कठोर व्यक्ति। "बहुत जल्दी गुस्सा होने और क्रोध में फट पड़ने की प्रवृत्ति" निकोलाई बर्दिएँफ को वंश-परंपरा से प्राप्त हुई। 'कीव कैडेट कोर' की सैनिक अकादमी में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। शुरू से ही आरोपित अनुशासन और नियमों के प्रति विद्रोह का भाव था। पढ़ाई-लिखाई में बर्दिएँफ बहुत तेज या सफल छात्र नहीं थे। "मैं जिंदगी के उलझे हुए अर्थों पर गंभीरता से सोचने-विचारने में तो सफल रहा, पर गणित का एक भी प्रश्न सही तौर पर कभी हल न कर सका।" बीमारियां बर्दिएँफ के प्रति हमेशा ही अतिरिक्त अनुराग से भरी रहीं। सैनिक-शिक्षा के कारण गहन-से-गहन संघर्ष और संकट में साहस की कभी कमी नहीं हुई, परंतु बीमारियों के सामने वे बुरी तरह पराजित हो जाते।

बर्दिएँफ के व्यक्तित्व के निर्माण में स्कूली शिक्षा-दीक्षा से कहीं अधिक प्रभाव रूसी लेखकों और चिंतकों का पड़ा। उन्होंने अपनी जीवनी में इस महत् अवदान को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है—"ज्यों-ज्यों मैं अपने बचपन और किशोरावस्था के बारे में सोचता हूं त्यों-त्यों मुझे यह लगता है कि दॉस्तोएँवस्की और तॉल्स्ताय का प्रभाव अमिट है। इन दोनों महान् लेखकों के उपन्यासों के चरित्रों के साथ जैसे मेरा एक अजीब संबंध है। इवान करमोजोव, वर्सिलोव, स्तावोंजिन, प्रिंस आंद्रे के ही साथ नहीं, बल्कि उनके साथ भी जिन्हें दॉस्तोएँवस्की 'रूस के यात्री' कहा करता था यानी चाट्स्की, एवेगुनी ओनेजिन, पेछोरिन, आदि के साथ भी। इसी अनुभव ने रूस और उसकी सारी भवितव्यता के साथ मुझे अटूट रूप में जोड़ दिया। दूसरी ओर मेरे जीवन पर कतिपय स्लावोफिल चिंतकों, ब्लादमीर सोलोविएँफ, हरजेन तथा बाकुनिन जैसे विचारकों का भी घना प्रभाव पड़ा।"

1. ड्रीम एँण्ड रीयलिटी, जिओफे ब्लेस, लंदन 1950. बर्दिएँफ की आत्मकथा और दर्शन-धारणा का आधार ग्रंथ।

रूस बर्दिएॅफ की मातृभूमि है, किंतु उसके प्रति उनका प्रेम सिर्फ इसी कारण इतना अगाध और अटूट न था बल्कि इसलिए भी कि वे स्लावोफिल चिंतकों के इस कथन में पूर्ण विश्वास करते थे कि आधुनिक विश्व में अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण रूस को एक महान् 'मिशन' को पूरा करने का काम सौंपा गया है। पूर्व और पश्चिम के संधिस्थल पर स्थित होने तथा ईसाइयत की शुद्ध परंपरा का उत्तराधिकारी होने के कारण सिर्फ रूस ही इस स्थिति में है कि वह संपूर्ण ईसाई जगत् को सही मार्ग दिखा सकता है।

स्वतंत्रता के प्रति बर्दिएॅफ की अदम्य आकांक्षा उन्हें हमेशा ही एक क्रांतिकारी की भूमिका में खड़ा करती रही। इसी भावना ने उन्हें अभिजात सामंती वर्ग के प्रति विद्रोहशील बनाया। वे अपने निजी वातावरण से पूरी तरह कटकर एकांत में खड़े हो गये। वे प्रगतिशील विचारधारा में आस्था रखनेवाले मार्क्सवादी थे। उन्होंने लिखा है कि **"मेरी प्रगतिशील मान्यताएं और क्रांतिकारी धारणाएं शुरू से ही बहुत उलझी हुई और गुंफित रही हैं। मैंने रूसी बौद्धिक-वर्ग के बहुमत का अंधानुकरण कभी नहीं किया। जारशाही के खिलाफ मेरा विरोध राजनीतिक मात्र नहीं था। मुझे लगता था कि वह विरोध आध्यात्मिक क्रांति का ही रूप है। यह आत्मा, स्वतंत्रता और अर्थपूर्ण जिंदगी का विद्रोह है जो गुलामी और अर्थहीन जगत् के समूचे अवरोधों को तोड़ने के लिए उठ पड़ी है।"** वे मार्क्स के गहरे प्रभाव को स्वीकार करते हैं। उन्हें मार्क्स की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि हजारों-हजार नयी संभावनाओं का स्रोत जान पड़ी। उन्हें लगा कि हमारे युग में अब एक ऐसी दृष्टि का नवोन्मेष हुआ है जो मनुष्य की बाधित रचनाशक्ति के असंख्य द्वारों को उन्मुक्त कर देगी। बर्दिएॅफ का कीव के 'सोसल डिमाक्रैट्स' संस्था से संबंध था। वे इनकी सभाओं में भाषण देते। वातावरण गर्म होता जा रहा था और 1898 ई० में एक दिन वे गिरफ्तार कर लिए गये। यूनिवर्सिटी से निष्कासित हुए। यद्यपि वे कुल दो महीने ही जेल में रहे, किंतु इस छोटे अनुभव ने भी उन्हें यह बोध दे ही दिया कि **"जिंदगी का सही अर्थ समर्पण नहीं, विरोध और विद्रोह है।"** उनके ऊपर राज्य का तख्ता उलटने, चर्च की व्यवस्था को बदलने, तथा व्यक्तिगत संपत्ति और परिवार-पद्धति के विरोध में कार्य करने के आरोप लगाये गये। परिणामतः दो वर्ष का निष्कासन-दंड और वोलोग्दा प्रांत में रहने की आज्ञा मिली। इसी निष्कासन-काल में उन्होंने 'सामाजिक दर्शन में व्यक्तिवाद और विषयितत्व' नामक पहली पुस्तक लिखी। यह पुस्तक मार्क्सवाद और व्यक्तिगत अधिकारों के परस्पर संबंधों की ऐसी व्याख्या करती है कि प्लेखानोफ ने इसे पढ़कर उसी समय भविष्यवाणी की थी कि ऐसे लेखक का बहुत दिनों तक मार्क्सवादी बने रह पाना संभव नहीं है। इस पुस्तक के कारण बर्दिएॅफ मार्क्सवादी गोष्ठियों में कड़ी आलोचना के पात्र बने।

ई० 1904 में बर्दिएँफ पीटर्सबर्ग आये, जहां उन्होंने 'क्वेश्चन ऑव लाइफ' (जीवन के प्रश्न) नामक पत्रिका का संपादन संभाला। यहीं उनकी लीडिया से मुलाकात हुई जो 'जीवन-भर की मित्र' (पत्नी) बनी। बर्दिएँफ आधुनिक पारिवारिक पद्धति के भी विरोधी थे। इसी कारण उन्होंने अपनी आत्म-कथा मे लीडिया को सर्वत्र मित्र या 'जीवनसंगिनी' ही कहा है, पत्नी नहीं।

रूस में सामाजिक क्रांति की पूर्वपीठिका वन रही थी। बर्दिएँफ को लगा कि ये सामाजिक प्रयत्न सांस्कृतिक जीवन से पूर्णत: अलग होते जा रहे हैं। इसे उन्होंने दुर्भाग्य कहा है। "यह अलगाव भावी क्रांति और उसके विकास के लिए बहुत दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ।" 'क्वेश्चन ऑव लाइफ' का मुख्य प्रयोजन सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति को युगपत् रूप मे संगठित करना था।

रूसी क्रांति सफल हुई। 'पवित्र महान् जारशाही' के अवश्यंभावी विनाश की भविष्यवाणी करनेवाले बर्दिएँफ भी बहुत खुश हुए। उन्हें लगा कि आदर्श जिंदगी के मिथ्या प्रतीक और छद्मरूप अचानक ही भहराकर गिर पड़े हैं। किंतु उनकी खुशी चिरस्थायी नहीं रही। रूसी क्रांति उनकी धारणाओं के अनुकूल सिद्ध नहीं हुई। उन्होंने लिखा—"रूसी क्रांति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह नहीं था कि वह बड़ी जल्दी आयी बल्कि यह कि उसके आने में काफी देर हुई। इसकी समूची प्रकृति युद्ध के बीच निर्मित हुई थी और चूंकि यह क्रांति खूनी युद्ध के बीच से उभरी इसलिए हमेशा ही अपने साथ उदास और निराश बनानेवाले अनेक तत्वों को भी समेटे रही।"

बर्दिएँफ स्वतंत्रता प्रदान करनेवाली क्रांति के तो समर्थक थे, किंतु उसके सर्वविनाश रूप के प्रति उनकी आस्था न थी। इस समय वे 'अखिल रूसी लेखक संघ' के कार्यों में लग गये और उन्होंने शक्ति-भर यह प्रयत्न किया कि रूसी क्रांति एक गहरी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्रांति भी बन सके। उन्होंने क्रांति से उत्पन्न एक आश्चर्यपूर्ण और संताप देनेवाले परिवर्तन को लक्ष्य करते हुए लिखा—"मनुष्यों का एक नया वर्ग सामने आया। ऐसे मनुष्य जिनमें क्रांति-पूर्व रूसी मनुष्य की उदारता और सहनशीलता का लवलेश भी न था। इनमें 'जो नहीं है' की आकांक्षा न थी, अराजकता न थी, कानून के प्रति विद्रोह न था, संदेह, आंतरिकता, उदासी और अंतर्मुखीनता का कोई भाव न था। बस एक क्रूर, सिपाहियाना आशावाद था जो जिस किसी की भी आज्ञा मानने और हर-कुछ करने को तैयार रहता था।"

1920 में बर्दिएँफ मास्को विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर हुए। इसी समय एक अराजकतावादी गोष्ठी में ईशु पर एक सभा हुई। सभा में लाल सेना के सैनिक, मजदूर और नाविक भी शामिल थे। एक मजदूर ने एक निबंध पढ़ा जिसमें ईशु की माँ को एक वेश्या और उन्हें एक रोमन सैनिक का पुत्र बताया गया था।

ऐजेज (1924), द डेस्टिनी ऑव मैन (1931), मैन ऐंड मशीन (1933), द फेट आव मैन इन मॉडर्न वर्ल्ड (1934), द एग्झिस्टेंशियल डायलेक्टिक्स आव डिवाइन ऐंड ह्यूमन (1947) उनकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं।

बर्दिएँफ का सारा व्यक्तित्व परस्पर विरोधी आधुनिक विचारधाराओं का अद्भुत सेतु है। क्या था इस व्यक्ति में कि वह अपनी मातृभूमि से पूरी तरह संसिक्त रहते हुए भी निष्कासित हुआ और धीरे-धीरे जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड और फिर अमेरिका में दिग्विजय करते हुए संपूर्ण ईसाई-जगत को उसने झकझोरकर रख दिया। एशिया की नैतिकता, योरोप की स्वतंत्र-भावना, अमेरिका की स्वच्छंदता जैसे बर्दिएँफ के व्यक्तित्व में सायुज्य पा गयी हो। बर्दिएँफ के जीवन और चिंतन की आधारशिला है उनकी पूर्ण आराजक-भावना। वे किसी भी प्रकार के बंधन को मानव अस्तित्व के लिए खतरनाक मानते थे। यह सही है कि उनका अस्तित्ववाद योरोपीय अस्तित्ववाद से संबंधित नहीं है। किंतु उन्होंने स्वयं अपनी निजी परिस्थितियों के बीच चिंतन की जिस पद्धति की उपलब्धि की वह पूर्ण अस्तित्ववादी थी। वे मानते थे कि आज का विश्व एक अभूतपूर्व संकट के भीतर से गुजर रहा है। आज का मनुष्य अपने स्वयं-निर्मित वातावरण में एक 'उखड़े हुए' प्राणी की तरह जी रहा है। **"उखड़े हुए इंसान की आत्म-पीड़ा का यह बोध, जिसे मैंने दार्शनिक शब्द में 'पदार्थीकरण' (ऑब्जेक्टिफिकेशन) कहा है, मेरे संपूर्ण चिंतन की आधार-शिला है।"**[1] मैं इस विश्व में हमेशा ही एक पराभौतिक अकेला-पन का अनुभव करता रहा हूं।

आधुनिक मानव अस्तित्व का एक दूसरा मौलिक तत्त्व है वेदना (एंग्विश)। वेदना, भय, त्रास और क्लांति आज के जीवन के अपरिहार्य रूप हैं। वेदना संसार की अवास्तविकता, क्षुद्रता और अनित्यता में उपजती है और हमेशा किसी अन्य जगत् की ओर अभिमुख होती है। भय (फीयर) अंतर्जगत् के खतरे का द्योतक है। क्लांति (टेडियम) जगत् की रिक्तता का बोध है। वेदना आशा-संयुक्त होती है, भय और क्लांति आशा-रहित। त्रास (टेरर) उग्र वेदना का संवेग है और यह मनुष्य को समूल झिंझोड़कर रख देता है। तुर्गनेव वेदना का कलाकार है जब कि दॉस्तोएँवस्की त्रास का। बर्दिएँफ वेदना और त्रास को सत्यानुभूति का कारण मानते हैं।

बर्दिएँफ की दृष्टि से आधुनिक अलगाव के मूल में 'पदार्थीकरण' ही प्रमुख कारण है। बर्दिएँफ ज्ञाता को ज्ञेय से हमेशा ही अलग और श्रेष्ठ मानने के पक्ष में हैं। वे पदार्थ-ज्ञान को ऊपरी ज्ञान का पर्याय मानते हैं। आज का जगत् जीवन को

1 ड्रीम ऐंड रीयलिटी, पृष्ठ 33

पदार्थों के रूप में समझने का अभ्यासी हो चुका है। वे अंतर्ज्ञान को बाह्य पारिभाषिक ज्ञान की अपेक्षा वरेण्य मानते हैं। "मेरे निकट वही ज्ञान है जो रचनात्मक समझ, आत्मा की स्वच्छंदता, इच्छा शक्ति की सही दिशा, सूक्ष्म इंद्रिय-बोध, अर्थवत्ता के अन्वेषण की पिपासा तथा निर्भ्रांत, उन्नयनशील और गतिदायिनी आशा को जगाता है।" उनकी सारी शक्ति यह सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थी कि व्यक्तिगत और साकार वैश्विक और निराकार से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। वे मनुष्य की मूल प्रकृति के नहीं उसके ठोस अनुभवगम्य अस्तित्व को अपने चिंतन-मनन की आवश्यक चीज मानते थे। उन्होंने लिखा—"वह जो मुझे खींचती है, छूती है, तल्लीन बनाती है, वह है मनुष्य की नियति। यानी ज्ञाता, चिद्-अणु जिसके भीतर समूची सृष्टि स्पंदित होती है, जागृत होती है। और यह चिन्मय अणु निरंतर अपने होने और जगत् के होने की साक्षी ढोता रहता है।"[1]

बर्दिएॅफ की दृष्टि से इस समूचे अस्तित्व की सार्थकता का नाम है स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता के वे मौखिक समर्थक ही नहीं थे; बल्कि इसकी उपलब्धि और सुरक्षा के लिए जिंदगी-भर लड़नेवाले सैनिक भी थे। वे किसी भी प्रकार की तानाशाही के विरोधी थे, चाहे वह जारशाही हो, चाहे कम्यूनिस्ट तानाशाही, चाहे नाजी फासिस्टवाद। वे इन सभी के विरोध में अंतिम दम तक लड़ते रहे। उन्हें अनेक लोग इसी कारण 'स्वतंत्रता का दार्शनिक' भी कहते हैं। उन्होंने लिखा है—"मनुष्य अस्तित्व की हर वस्तु स्वतंत्रता से ही उपजनी चाहिए, उसी के बीच बढ़नी चाहिए और यदि यह स्वतंत्रता की विरोधी सिद्ध हो तो निःसंकोच ध्वस्त कर दी जानी चाहिए।" स्वतंत्रता एक उलझी हुई धारणा है। इसके सरलीकरण का प्रयत्न हमें गलत दिशा में भी ले जा सकता है। स्वतंत्रता सिर्फ उन्मुक्त इच्छाशक्ति ही नहीं है, जिसका उद्देश्य अच्छे-बुरे में भेद करने की, या वरण की स्वतंत्रता होता है, बल्कि स्वतंत्रता संपूर्ण मानव रचनाशक्ति का स्रोत है। रचनात्मक (क्रियेटिविटी) ही इसकी परीक्षा एकमात्र आधार है। यह रचनात्मकता सिर्फ कला और साहित्य-संस्कृति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि एक गहरी मानसिक प्रक्रिया है। यह मानव अस्तित्व के भीतर ईश्वरीय शक्ति का स्फुरण है। रचनात्मकता, पाप और प्रायश्चित के प्रश्नों पर भी गम्भीर विचार की आवश्यकता है। ईश्वरीय रचना निरंतर मनुष्य का रचनात्मक-प्रतिदान के लिए आह्वान करती रहती है। जिस प्रकार स्वतंत्रता ईश्वरीय अवदान और ईश्वर के प्रति मानवीय प्रतिदान का एक रूप है, उसी प्रकार मनुष्य की रचनात्मकता भी। पाप की भावना रचनात्मक प्रक्रिया को कुंठित करती है। शुद्ध रचनात्मक प्रक्रिया हमेशा ही दैवी आनंद और प्रकाश का कारण है। पाप-भावना उच्च अनुभूतियों में अवश्य ही परिवर्तित

1. ड्रीम ऐंड रीयलिटी, पृष्ठ 103

होनी चाहिए। ईश्वरी कृपा (प्रेम) के विधान का यही वास्तविक लक्ष्य है। रचनात्मक प्रक्रिया ससीम के भीतर असीम को बांधती है। यह प्रक्रिया भद्दे पदार्थीकरण की प्रक्रिया को बदलकर मनुष्य अस्तित्व के भीतर वह शक्ति पैदा करती है जिसके द्वारा मनुष्य सभी अवरोधों को तोड़कर असीम सत्ता की ओर अतिक्रांत कर जाता है। बर्दिएॅफ यह मानते हैं कि रचना की शक्ति ईश्वरीय प्रसाद है, किन्तु पाप में आबद्ध मनुष्य के लिए यदि उन्नयन और मुक्ति का कहीं मार्ग है तो वह निश्चय ही उसके रचनात्मक प्रतिदान से होकर ही जाता है।

'द मीनिंग ऑव द क्रीएटिव ऐक्ट' इस बात की साक्षी है कि इस जगत् में मनुष्य की रचनात्मक प्रक्रिया हमेशा ही असफल होती है क्योंकि मनुष्य का प्रयत्न एक नया जीवन, एक नयी सृष्टि, एक नया स्वर्ग उतारने का होता है, किंतु वस्तुओं की सीमा कभी भी उनकी यह इच्छा पूरी नहीं होने देती। उसके वश में सिर्फ प्रयत्न है, और यह प्रयत्न ही उसके अस्तित्व को एक अर्थ दे जाता है।

ईश्वर के बारे में पूर्ण समर्पित होते हुए भी बर्दिएॅफ की आस्था दॉस्तोवस्की के पात्र इवान करमोजोव के इस कथन में विश्वास करती-सी प्रतीत होती है कि —"मैं ईश्वर में विश्वास तो करता हूं किंतु उसके इस संसार में विश्वास नहीं करता।"

सेक्स और प्रेम के बारे में भी बर्दिएॅफ के विचारों में आदर्श और विद्रोह का अजीब सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। संभोग (सेक्सुअल ऐक्ट) में ऐसा कुछ नहीं है जिसे व्यक्तिगत, आंतरिक और असामान्य कहा जाय। उल्टे यह प्रक्रिया मनुष्य को पशु-धरातल से संबद्ध करती है। इंद्रियजन्य आकर्षण किसी व्यक्ति के आंतरिक सौंदर्य का उद्‌घाटन भी नहीं करता, बल्कि उसे वस्तु बनाकर सौंदर्यबोध को और भी अधिक कुंठित ही करता है। सेक्स प्रेम का समाजीकरण तथा पदार्थीकरण है। यह सब जगह एक तरह होता है। इसमें व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है। जबकि प्रेम व्यक्तिगत अस्तित्व की वस्तु है। यह आत्मा की स्वतंत्रता का संदेश है। इसीलिए "**मैं हमेशा प्रेम की स्वतंत्रता का पक्षपाती हूं। किसी को भी प्रेम की निंदा करने, प्रेम करने और किये जाने की स्वतंत्रता को छीनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सेक्स और प्रेम का समाजीकरण हमारे इतिहास की सबसे बड़ी घृणित घटना है, जो समाज को पंगु बनाती है। और नानाविध कठिनाइयों को पैदा करती है।**"

अस्तित्ववादी चिंतकों के बारे में भी बर्दिएॅफ के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और ये प्रकारांतर से उनके निजी विचारों को भी स्पष्ट करते हैं। वे ये मानते हैं कि रूसी विचारधारा शुरू से ही एक प्रकार के अस्तित्ववाद से प्रभावित रही है, उस अस्तित्ववाद से नहीं जो हेडगर, यास्पर्स या सार्त्र के बाद एक 'फैशन' बन गया है। ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञाता का महत्त्व स्वीकारना, तर्क की अपेक्षा [illegible]

पर अधिक जोर देना, सामान्य और वैश्विक सूक्ष्म सत्ता की जगह व्यक्तिगत अस्तित्व को वरीयता देना, मानव की स्वतंत्रता की घोषणा करना आदि, तत्त्व दॉस्तोवस्की और विलो शेस्तोफ़ में ही नहीं, मध्यकालीन रूसी चिंतकों में भी मिलते हैं। बर्दिएँफ कीर्कगार्द और यास्पर्स को अधिक विश्वसनीय चिंतक मानते हैं। कारण स्पष्ट ही इनकी ईसाई आस्था प्रतीत होती है। बर्दिएँफ इन सभी चिंतकों से अपने को भिन्न भी रखना चाहते हैं। कीर्कगार्द की सर्द पाप-स्वीकृति और पाप-उन्नयन का सिद्धांत उन्हें पसंद नहीं। वे हेडगर और यास्पर्स को भी पूरी तरह पसंद नहीं करते। नीत्शे जरूर उनके श्रद्धास्पद हैं और उन्होंने उनके बारे में लिखा है—'कि मैं नीत्शे के जरथुष्ट्र की तरह अपनी पूरी जिंदगी सिर्फ़ यही कहना चाहता हूं 'शाश्वत, मैं तुम्हें प्यार करता हूं।' " पेरिस में रहते आधुनिक युग के अनेक साहित्यकार और चिंतकों से बर्दिएँफ मिले-जुले और उन्होंने 'ड्रीम ऐंड रीयलिटी' के 'रशा ऐंड द वेस्ट' नामक अध्याय में इन लोगों पर अपने विचार भी दिये हैं। मार्सेल, एक ईसाई अस्तित्ववादी होने के कारण उनके सबसे नजदीकी लगने चाहिए थे, किंतु मार्सेल के मिस्ट्री (रहस्य) सिद्धांत को तो वे पसंद करते थे; किंतु हर समस्या का समाधान 'कैथोलिक' चर्च में पा लेने के उनके विश्वास को स्वीकार नहीं कर पाते थे।

बर्दिएँफ कर्मवाद (एसकेटोलॉजी) में भी आस्था रखते थे। बर्दिएँफ का अराजक अस्तित्ववाद नाना प्रकार के विरोधी विचारधाराओं का विचित्र संगम प्रतीत होता है। इस कारण चिंतन की स्पष्टता के स्थान पर प्रायः ही उलझनों की प्रधानता हो जाती है, फिर भी मानवीय व्यक्तित्व के विश्लेषण की उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। सी० सी० जे० वेब इसे 'व्यक्तित्व के अंधकारपूर्ण गहराई की अद्भुत दृष्टि' कहते हैं। उनके बारे में एफ० एच० हीनमान का कथन अत्यंत सटीक है कि वे "बुद्ध तो नहीं हो सके किंतु बोधिप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बोधिसत्व जरूर थे।"

●●

अनुक्रमणिका

आ

ध

न

ल

व

●●